कोई एक

मेरी ओर से

बाईस वर्ष पहले लेखनी की शुरुआत गीतों से हुई थी···समय के साथ गीत धीरे-धीरे मुक्त छन्द बन गए। 'कल्पना', 'माध्यम' ने सत्रह वर्ष पहले कविरूप में प्रतिष्ठित कर दिया···फिर लगा, कविता समाप्त हो गई है या अन्दर का कवि मर गया है। दो वर्ष खालिस निष्क्रियता में बीते। मज़ाक-मज़ाक में कहानी लिखने बैठी तो वह उपन्यास बन गया ('मुहूर्त', १९७०)।

मुहूर्त की पाण्डुलिपि देखकर राजधानी के एक वरिष्ठ प्रकाशक ने एक चुनौती सामने रखी : "एक उपन्यास तो सभी लिख लेते हैं···इससे उपन्यास-लेखन की सही क्षमता का पता नहीं चलता।" बात कहीं चुभी थी। अपनी क्षमता का जायज़ा लिया तो 'कोलाज' (१९७१) सामने आया।

संघर्ष की दिशा बदली, ज़िन्दा रहने के लिए फरमाइशी लेखन ज़रूरी हो गया···सृजन-क्षमता नामशुदा लेखकों के पास गिरवी भी रखनी पड़ी। ख्वाबों की गुंजाइश नहीं थी···संघर्ष अपने रंग पर था। चार साल पलक झपकते गुज़र गए। तब आई व्यवस्था।

पत्रकारिता का दामन थामकर ज़िन्दगी से सुलह कर ली है। लिखना मेरी नियति साबित हुई, यह तो कोई बात नहीं, बात यह है कि मैंने अब इसे स्वीकार कर लिया है।

'कोई एक' मेरी ज़िन्दगी का अनुभूत सत्य है। उपन्यासों के क्रम में इसका स्थान चौथा है।

एन ३०, कालकाजी
नई दिल्ली-१९
(११००१९)

१

सत्यजित से मेरी मुलाकात मेरे ही घर पर हुई थी। सत्यजित, जिसने मेरी आंखों को नई रोशनी दी, ज़िंदगी की अंधेरी परतों से निकालकर मुझे एक ऐसी जगह खड़ा कर दिया, जहां से मैं दूर-दूर तक देख सकती थी। स्याह-सफेद सब कुछ मेरी आंखों के सामने था। सत्यजित ने मुझे जीने की प्रेरणा दी। मेरे लिए एक भविष्य का द्वार खोल दिया कि मुझे भटकने की जरूरत नहीं। मेरी मंज़िल उधर से नहीं इधर से गुज़रेगी, विश्राम मुझे वहां नहीं यहां मिलेगा, ज़िंदगी मुझे वैसे नहीं ऐसे जीनी है। सत्यजित ने मुझे एक हरे-भरे खुशनुमा बाग में लाकर छोड़ दिया कि अपने मन से मैं जितनी कलियां चाहूं, चुन लूं। दु:ख-दर्द भूलकर इन्हीकी ताज़गी में खो जाऊं ताकि मुझे व्यस्त देखकर सत्यजित वापस जा सके। हां, सत्यजित वापस जा सकता था। वह किसीसे बंधना नहीं चाहता। उसकी ज़िंदगी उसके अपने ही सांचे में ढली मालूम पड़ती है। वह अपने लिए जीना चाहता है। दूसरों के लिए ज़िंदगी जीने वाली भावुकता से उसका कोई वास्ता नहीं। एक लक्ष्मण-रेखा उसके चारों ओर देखी जा सकती है, जिसे पार करने की इजाज़त वह किसीको नहीं देता या शायद किसीने ऐसी कोशिश नहीं की। जो भी हो, यह एक सच्चाई है, कि लक्ष्मण-रेखा जैसा ही कुछ है, जिसमें घिरे रहना सत्यजित को अच्छा लगता है, और तब शायद यह बात मुझे भी नहीं मालूम थी।

मैं आत्मविस्मृता-सी सत्यजित को देखती रह गई थी। पता नहीं उसने मेरी ओर ध्यान दिया या नहीं। ध्यान देकर भी क्या होता, मेरे लिए

ही वहुत था कि सत्यजित से मेरी मुलाकात हुई। मुझे ल
की वदौलत मुझे वह सब कुछ मिल गया है, जो न मिलता या मिलता, कौन जाने ? भाग्य अगर सच है, तव तो यह सब मिलना ज़रूरी था, क्योंकि भाग्य पहले ही लिख दिया जाता है और मेरे भाग्य में अगर यह लिखा था तो सत्यजित मुझे क्यों न मिलता ? वहरहाल सच्चाई फिर भी वचती है। मुझे वह सब कुछ मिला, जिसकी कल्पना भी मैं भूल गई थी और यह कि सत्यजित से मेरी मुलाकात भी हुई मेरे ही घर पर।

न जाने क्या था उस दिन, दफ्तर में जन्मदिन मनाने का अजीव-सा रिवाज है। ऊपर से नीचे तक कुल पचास आदमी काम करते हैं। साल में कुल वारह महीने हुए। औसत निकाला जाए तो हर महीने तीन जन्मदिन तो वैसे ही आते हैं। लेकिन ऐसा कुछ था नहीं। शायद किसीका स्वागत या किसीको विदा किया गया था। कुछ ठीक से याद नहीं। वस दफ्तर से लौटने में काफी देर हो गई थी। पार्टी में कुछ नये चेहरे भी थे, मेरी ओर मुखातिव भी हुए, लेकिन मेरे लिए क्या ? जाने कितने चेहरे आते-जाते रहते हैं, मिलते-विछड़ते हैं, क्या उन सबका हिसाव रखा जाता है ?

फिर सत्यजित से मिलने की उत्सुकता मुझे क्यों न होती ? यह ठीक है कि उत्सुकता की सीमाएं मेरे लिए खत्म हो चुकी थीं; मैं अपने में संपूर्ण थी; लेकिन सत्यजित उस शाम अमित की अमानत लेकर आने वाला था। पिछली शाम वह मुझे मिला नहीं था। मैं जानती थी, इस शाम वह ज़रूर आएगा। मुझे सत्यजित की अपेक्षा थी।

एक एडवरटाइज़िंग एजेंसी में सात सौ रुपये की नौकरी। कॉपीराइटर का ओहदा और ज़िम्मेदारियों के नाम पर मेरी अपनी ही ज़िंदगी थी, जो मैंने ओढ़ ली थी। मां को मेरे रुपयों की ज़रूरत नहीं थी। पापा का 'सुदर्शन विला' इतना संपन्न था कि मां के साथ दो-चार ज़िंदगियां और चल सकती थीं। कभी-कभी मां ही कुछ भेजकर खुश हो लेती थीं। इकलौती बेटी थी उनकी। खुशी के ऐसे मौके मैं उन्हें कम ही देती थी। अतीत मैं भूल चुकी थी। वर्तमान ही मेरा भविष्य था। सत्यजित से अगर मुलाकात न होती तो सहसा ज़िंदगी के अंधकार का अहसास भी मुझे न होता।

मैं अकसर कहती : "भविष्य मेरे लिए नहीं है।"

सत्यजित पहली बार यह सुनकर खूब हंसा था।

अजीब सामंजस्य था उसके व्यक्तित्व में। हंसता तो मैं उसे अपलक देखती रहती। गंभीर हो जाता तो मेरी आंखें झुक जाती। वह मुझे अपने में बहुत बड़ा मालूम पड़ता या फिर एक छोटेपन का एहसास मुझे ही होने लगता···कुछ ठीक से याद नही, शायद ऐसे हर मौके पर मैं उसके घुटनों पर सिर रखकर बैठ जाना चाहती। अनंतकाल तक उसी तरह बैठी रहना चाहती या उससे कहना चाहती :

'जब तुमने इतना किया है तो थोड़ा और कर दो। तुम्हारे नजदीक दो इंच की जगह मेरे लिए भारी नहीं पड़नी चाहिए।'

लेकिन ऐसा मैं कह नहीं पाती। सत्यजित से कोई भी बात इस तरह कही नही जा सकती। इसलिए नही कि वह सुनने से इनकार कर देता या मैं खुद ही कहने से डरती थी। इसलिए भी नही कि साफ-साफ कह देने में मुझे कुछ झिझक थी, बल्कि इन बातों का असर उसके लिए बेमानी था या इन बातों की तुलना में उसका रक्षा-कवच बड़ा मजबूत था ? यह धारणा मैंने न जाने कब, कैसे खुद ही बना ली थी। मुझे यह मानने से इनकार नहीं कि सत्यजित के साथ गुजारे हुए लमहों की कीमत मुझे देनी पड़ी। इसलिए नही कि वह मेरे प्रति प्रतिबद्ध नही था, बल्कि इसलिए कि मैं उसे बांधना नही चाहती थी या शायद चाहती थी ताकि गिरफ्त बढ़ती जाए। ऊपर से सब कुछ जैसा-तैसा रहते हुए भी कहीं मैं इतनी बड़ी जगह बना लूं कि सत्यजित अपनी लक्ष्मण-रेखा सहित उसमें खो जाए। और यह कोई आसान काम नही था। इसके लिए हर मुश्किल मुझे झेलनी थी, हर परेशानी का मुकाबला करना था। हर आने वाले क्षण को एक अनिश्चय के अंधेरे में डुबो देना था। शायद सत्यजित का अभिप्रेत भी यही था।

"अगर जिंदगी इतनी अनिश्चित है तो जी क्यों जाए ?" कभी-कभी परेशान होकर मैं कहती तो वह चुप रह जाता। काफी देर बाद जब उसकी चुप्पी मुझे खलने लगती, तब मेरी निगाह ऊपर उठती। मैं सत्यजित की तरफ देखने लगती, देखती रहती, फिर मेरी आंखें झुक जाती। बड़ी देर तक कोई कुछ न बोलता। पास-पास बैठकर भी हम एक-दूसरे से दूर होते। वक्त

खिसकता रहता।

"समय को किसी तरह रोका नहीं जा सकता ?" मैं ही पूछती।

"आप बताइए।" वह सवाल करता।

"आपने यह कैसे जान लिया कि मुझे मालूम होगा ?"

"आपको बहुत-सी बातें मालूम हैं। मैंने सोचा, शायद यह भी जानते हों ?"

"किसने कहा आपसे, मुझे बहुत-सी बातें मालूम हैं ?"

"अमित आपके बारे में अकसर बताया करता था।"

अमित के नाम पर फिर खामोशी छा जाती।

सत्यजित मेरी ज़िंदगी का पहला पुरुष नहीं था। पहले देव, फिर अमित और तब सत्यजित। देव के बारे में मैंने पापा को खुद ही बताया था, तब मैं बी० ए० फाइनल में थी। पापा के साथ दोस्तों जैसे संबंध थे मेरे। मां को कोई बात बताने में मुझे झिझक होती। पापा के साथ रात में देर-देर तक बातें होतीं; साहित्य की, राजनीति की। पापा कोई अच्छी किताब पढ़ते तो उसे देते हुए कहते :

"इसे ज़रूर पढ़ना। जब पढ़ लोगी, तब बात करेंगे।"

कॉलेज में कोई बात होती तो उसका पूरा विवरण पापा को दिए बगैर नींद न आती। हमारी बातें सुनकर मां ऊब जातीं। कभी-कभी झिड़ककर पापा से कहतीं : "अब सोने भी दो। दिन-भर कॉलेज में सिर खपाती है, रात में तुम बकबक शुरू कर देते हो।"

पापा मुस्कराते : "मेरी बेटी को बातों से ताज़गी मिलती है, क्यों रीना ?'

मैं सिर हिलाकर हामी भरती। मां के गले में बांहें डाल देती। मां चुप हो जातीं। हम अपनी बातों में फिर डूब जाते। देव के बारे में बातें होतीं तो पापा अंग्रेज़ी बोलने लगते। देव को जगह 'डी' कहते और हम दोनों को सनकी समझते हुए मां उठकर सोने चली जातीं।

देव के बारे में पापा ने एक बार साफ कह दिया था : "तुम्हारा आकर्षण स्थायी नहीं है रीना, जल्दी ही तुम्हें इसका एहसास हो जाएगा।"

मैंने कारण पूछा तो पापा देर तक चुप रहे, फिर बोले तो जैसे उन्होंने मेरा प्रश्न सुना ही न हो : "लेकिन मेरे कहने से तुम अपना इरादा मत बदलो। जिंदगी को देखो और समझो। जल्दी में कोई फैसला मत लेना।"

मुझे पापा पर फख्र था। अब भी है। मौत के बाद ही उनकी बातों की सच्चाई नजर आने लगी थी। पापा के बाद ही देव अमरीका चला गया और वह सिलसिला अपने-आप टूट गया। इसकी प्रतिक्रिया मुझपर न हुई हो, ऐसी बात नहीं थी, लेकिन मैं टूटी नहीं। मुझे लगा, यह सब तो होना ही था। पापा जानते थे, उन्होंने मुझे आगाह भी किया था।

अमित जिंदा होता तो मेरी मुलाकात सत्यजित से कभी न होती। सत्यजित को मेरे पास लाने के लिए ही जैसे अमित को जाना था। एक दुर्घटना में बुरी तरह घायल होकर हफ्ता-भर वह एक अस्पताल में पड़ा रहा था। मैं उसे देखने रोज जाती, उसके लिए दुआएं मांगती। अंदर से टूट-टूटकर भी ऊपर से तसल्लियां देती।

"कोई बात नहीं अमित, तुम ठीक हो जाओगे···देखो न, पहले से कितने अच्छे लग रहे हो। अरे, आज तो तुम्हारी आंखों में एक नई चमक है!"

अमित जानता था। मेरी तसल्लियों पर उसकी आंखें बरसने को होतीं तो वह आंसू पी लेता। कभी-कभी संतुलन न हो पाता तो दर्द का बहाना करता। मरने से दो दिन पहले मेरा हाथ अपने हाथ में लेकर उसने कहा था : "मेरी एक अमानत है रीना, तुम्हें सौंपना चाहता हूं।"

उस दिन मेरा धैर्य टूट गया था। बरसती हुई आंखों से मैंने अमित को देखा था। अमित ने मुझे अपने एक दोस्त का पता बताया, फिर बोला : "मेरे बाद इससे जरूर मिलना···वायदा करो।"

जब तक मैंने हां नहीं कहा, अमित बेचैन रहा और तब दो दिन बाद वह हमेशा के लिए शांत हो गया। मेरे लिए दुनिया अंधेरी हो गई। लगा, रोशनी का एक जर्रा भी मुझे नसीब नहीं होगा। अंधेरे के वीराने में हमेशा-हमेशा के लिए मैं भटकती रहूंगी।

महीनों बीत गए। मैं बदहवास पड़ी रही। मां हार मान गई, आया मेरे पास आने से डरने लगी।

तब एक दिन कागज के एक टुकड़े ने मुझे मेरी चेतना लौटाई। मछली

के पेंट से मिली हुई अंगूठी पाकर दुष्यंत ने भी वैसा ही कुछ महसूस किया होगा।

अमित के दिए हुए उस पते पर मैंने एक चिट्ठी लिखी। पता बंबई का था। लौटती डाक से जवाब आया, मेरा पत्र दिल्ली भेज दिया गया था, सत्यजित अब दिल्ली में था। सत्यजित का दिल्ली का पता भी नीचे लिखा हुआ था।

डिफेंस कॉलोनी और जोरबाग का फासला कुछ खास नहीं। एक दिन ऑफिस से लौटते हुए मैं जोरबाग की ओर मुड़ गई। सत्यजित घर पर नहीं था। नौकर को अपना पता देकर मैं वापस चली आई और दूसरे दिन जब मैं ऑफिस से लौटी, सत्यजित को इंतज़ार करते हुए पाया। वह मेरे कमरे के कोने वाली आरामकुर्सी पर बैठा था। उसके हाथ में एक पैकेट जैसी कोई चीज़ थी।

अमित के बारे में सत्यजित ने कई सवाल किए। कई बार मेरी आंखें बरस पड़ने को हुईं। कई बार सत्यजित की खामोश सहानुभूति मैंने महसूस की।

चलते समय पैकेटनुमा वह चीज़ मेरी ओर बढ़ाते हुए उसने कहा : "अमित की अमानत, जिसे वह आपको देना चाहता था।"

शुक्रिया अदा करते हुए मैंने उसे विदा किया। उसका दिया हुआ पैकेट लेकर मैं बड़ी देर तक बैठी रही। आंखें खामोशी से बरसती रहीं।

'एक अमानत है मेरी, जो मैं तुम्हें सौंपना चाहता हूं।' अस्पताल के बिस्तर पर पड़ा अमित मुझसे कह रहा था। मेरा हाथ उसके हाथ में था। मेरी आंखों के आगे एक-एक करके सारे चिराग बुझते जा रहे थे : 'एक घर होगा हमारा···हम होंगे। हम किसीकी नौकरी नहीं करेंगे। ज़िंदगी चलाने के लिए कुछ भी किया जा सकता है···मेरी एक ही महत्त्वाकांक्षा है···तुम ···तुम्हारे बाद किसीकी भी ज़रूरत नहीं। फिर मैं तुम्हें एक बात बताऊंगा। ऐसी बात, जिसकी तुम कल्पना नहीं कर सकतीं। जिसे सुनकर तुम्हें अजहद खुशी होगी। तुम्हारे पापा होते तो मुझे पसंद करते। हमारी सम्मिलित ज़िंदगी पर उन्हें शक न होता। देव एक सपना था, जिसे टूटना ही था। मैं सपना नहीं हूं रीना, हमारा जन्म ही एक-दूसरे के लिए हुआ

है। हमें एक होने से कोई रोक नहीं सकता। क्यों? इधर देखो। तुम्हारी आंखें गीली क्यों हैं? देव के लिए? भूल जाओ। देव तुम्हारे लिए नहीं, तुम्हारे लिए मैं हूं। मेरी ओर देखो, दुनिया की तमाम खुशियां तुम्हारे आंचल में भर दूंगा। मैं, अमित, तुम्हारा अमित, सिर्फ तुम्हारा···।'

दोनों हाथों में चेहरा छिप गया। मैं फूट-फूटकर रोने लगी। आया ने आकर मुझे सीने से लगा लिया : "जी भरकर रो ले बेटा, मन हलका हो जाएगा।"

अमित के मरने के बाद मैं पहली बार रोना चाहती थी। आया बीच में आ गई तो आंसू सूख गए। थोड़ी देर उससे टिककर बैठे रहने के बाद उठी। हाथ-मुंह धोकर आई। मरे मन से मैंने सत्यजित का दिया हुआ पैकेट खोला।

'चक्रवात'—मुखपृष्ठ पर अमित के हाथ के बड़े-बड़े अक्षर।

शरीर में सिहरन हुई। चक्रवात और अमित? क्या हो सकता है?

अमित के हाथ के लिखे हुए पूरे दो सौ पृष्ठ की पांडुलिपि। लेखक की जगह मेरा नाम।···

क्या मज़ाक था?···

'एक अमानत है मेरी, जो मैं तुम्हें सौंपना चाहता हूं।'

अमित और लिखना? अजीब बात थी। मेरी कल्पना से परे, अनुभूतियों से दूर।···

'मैं बड़ा अभागा हूं रीना, मेरा नाम ही अभागा है। तुम्हारे नाम से जुड़कर वह सौभाग्य में बदल जाएगा। मैं अगर कुछ कर सका तो कारण तुम होगी। मैं तुम्हारे नाम से ज़िंदा रहना चाहता हूं। मुझे अपने नाम का अधिकार दो। मैं ज़िंदगी-भर तुम्हारी गुलामी कर सकता हूं।'

उसकी कई बातों का मतलब तब मेरी समझ में नहीं आया था। मेरे नाम का अधिकार मांगने से उसका क्या मतलब था? वह क्या बात थी, जिसे सुनाकर मेरी अजहद खुशी की कल्पना वह किया करता था? इसी तरह की न जाने कितनी बातें और···

एक, दो, तीन। पृष्ठ पलटते गए। आसपास से बेखबर मैं 'चक्रवात' में डूब गई। प्रसंग मन को छूते गए, भाषा तराशती गई। आया मेरे पास

के पेट से मिली हुई अंगूठी पाकर दुष्यंत ने भी वैसा ही कुछ महसूस किया होगा।

अमित के दिए हुए उस पते पर मैंने एक चिट्ठी लिखी। पता बंबई का था। लौटती डाक से जवाब आया, मेरा पत्र दिल्ली भेज दिया गया था, सत्यजित अब दिल्ली में था। सत्यजित का दिल्ली का पता भी नीचे लिखा हुआ था।

डिफेंस कॉलोनी और जोरबाग का फासला कुछ खास नहीं। एक दिन ऑफिस से लौटते हुए मैं जोरबाग की ओर मुड़ गई। सत्यजित घर पर नहीं था। नौकर को अपना पता देकर मैं वापस चली आई और दूसरे दिन जब मैं ऑफिस से लौटी, सत्यजित को इंतज़ार करते हुए पाया। वह मेरे कमरे के कोने वाली आरामकुर्सी पर बैठा था। उसके हाथ में एक पैकेट जैसी कोई चीज़ थी।

अमित के बारे में सत्यजित ने कई सवाल किए। कई बार मेरी आंखें बरस पड़ने को हुईं। कई बार सत्यजित की खामोश सहानुभूति मैंने महसूस की।

चलते समय पैकेटनुमा वह चीज मेरी ओर बढ़ाते हुए उसने कहा : "अमित की अमानत, जिसे वह आपको देना चाहता था।"

शुक्रिया अदा करते हुए मैंने उसे विदा किया। उसका दिया हुआ पैकेट लेकर मैं बड़ी देर तक बैठी रही। आंखें खामोशी से बरसती रहीं।

'एक अमानत है मेरी, जो मैं तुम्हें सौंपना चाहता हूं।' अस्पताल के बिस्तर पर पड़ा अमित मुझसे कह रहा था। मेरा हाथ उसके हाथ में था। मेरी आंखों के आगे एक-एक करके सारे चिराग बुझते जा रहे थे : 'एक घर होगा हमारा···हम होंगे। हम किसीकी नौकरी नहीं करेंगे। जिंदगी चलाने के लिए कुछ भी किया जा सकता है···मेरी एक ही महत्त्वाकांक्षा है···तुम ···तुम्हारे बाद किसीकी भी जरूरत नहीं। फिर मैं तुम्हें एक बात बताऊंगा। ऐसी बात, जिसकी तुम कल्पना नहीं कर सकतीं। जिसे सुनकर तुम्हें अजहद खुशी होगी। तुम्हारे पापा होते तो मुझे पसंद करते। हमारी सम्मिलित ज़िंदगी पर उन्हें शक न होता। देव एक सपना था, जिसे टूटना ही था। मैं सपना नहीं हूं रीना, हमारा जन्म ही एक-दूसरे के लिए हुआ

है। हमें एक होने से कोई रोक नहीं सकता। क्यों ? इधर देखो। तुम्हारी आंखें गीली क्यों हैं ? देव के लिए ? भूल जाओ। देव तुम्हारे लिए नहीं, तुम्हारे लिए मैं हूं। मेरी ओर देखो, दुनिया की तमाम खुशियां तुम्हारे आंचल में भर दूंगा। मैं, अमित, तुम्हारा अमित, सिर्फ तुम्हारा···।'

दोनों हाथों में चेहरा छिप गया। मैं फूट-फूटकर रोने लगी। आया ने आकर मुझे सीने से लगा लिया : "जी भरकर रो ले बेटा, मन हलका हो जाएगा।"

अमित के मरने के बाद मैं पहली बार रोना चाहती थी। आया बीच में आ गई तो आंसू सूख गए। थोड़ी देर उससे टिककर बैठे रहने के बाद उठी। हाथ-मुंह धोकर आई। भरे मन से मैंने सरयजित का दिया हुआ पैकेट खोला।

'चक्रवात'—मुखपृष्ठ पर अमित के हाथ के बड़े-बड़े अक्षर।

शरीर में सिहरन हुई। चक्रवात और अमित ? क्या हो सकता है ?

अमित के हाथ के लिखे हुए पूरे दो सौ पृष्ठ की पांडुलिपि। लेखक की जगह मेरा नाम।···

क्या मज़ाक था ?···

'एक अमानत है मेरी, जो मैं तुम्हें सौंपना चाहता हूं।'

अमित और लिखना ? अजीब बात थी। मेरी कल्पना से परे, अनुभूतियों से दूर।···

'मैं बड़ा अभागा हूं रीना, मेरा नाम ही अभागा है। तुम्हारे नाम से जुड़कर वह सौभाग्य में बदल जाएगा। मैं अगर कुछ कर सका तो कारण तुम होगी। मैं तुम्हारे नाम से ज़िंदा रहना चाहता हूं। मुझे अपने नाम का अधिकार दो। मैं ज़िंदगी-भर तुम्हारी गुलामी कर सकता हूं।'

उसकी कई बातों का मतलब तब मेरी समझ में नहीं आया था। मेरे नाम का अधिकार मांगने से उसका क्या मतलब था ? वह क्या बात थी, जिसे सुनाकर मेरी अजहद खुशी की कल्पना वह किया करता था ? इसी तरह की न जानें कितनी बातें और···

एक, दो, तीन। पृष्ठ पलटते गए। आसपास से बेखबर मैं 'चक्रवात' में डूब गई। प्रसंग मन को छूते गए, भाषा तराशती गई। आया मेरे पास

कई बार आई होगी। मुझे होश नहीं था। आखिरी पृष्ठ जब खत्म किया तो एक बज रहा था।

अमित का एक सर्वथा नया रूप मेरे सामने आया। अमित के अंदर एक लेखक की मेधा। मानव-मन को वह इतनी सफलता से शब्दों में बांध सकता था, कभी सोचा भी न था।

अमित···अब इस दुनिया में नहीं है, लेकिन उसकी परछाईं में, एक अदद रोशनी की तलाश में भटक रही हूं। रोशनी, जो मेरा घर रोशन कर सके, जो मुझसे बंधी हुई हो, जिसपर मेरा अधिकार हो, जिसके दायरे में बैठकर मैं खुद को दुनिया के सामने रख सकूं, यह मैं हूं, यह रोशनी मेरी है, यह दायरा मेरा है। रोशनी, जो अमित की परछाईं मिटा सके। ठीक है, अमित मेरा था, मैं उसकी होना चाहती थी। वह जिंदा होता तो ऐसा हुआ भी होता; लेकिन तब भी शायद उसकी परछाईं बनकर जीना मुझे कबूल न होता। जिस अमित को मैं जानती थी, वह ऐसा कभी नहीं चाहता। लेकिन तब शायद, उस अमित के साथ मैं वैसा न करती, जो मैंने 'चक्रवात' के अमित के साथ किया।

अमित अगर मेरा नाम लेकर जीना चाहता था तो यह उसकी चाहत थी। अपना नाम उसे सौंपकर खुद बेनाम होना न होना मेरी अपनी बात थी। 'चक्रवात' का लेखक अमित न होकर रीना सरकार भी होती तो अमित का इस नाम पर अधिकार होता।

अमित, जो सारी जिंदगी अपने नाम से घृणा करता रहा। जिसकी आखिरी हसरत थी रीना सरकार के नाम से जीने की। आज मेरे लिए सर्वथा अनजान है। उसकी तेज चुभती हुई आंखें मुझे बेचैन कर देती हैं। अंधेरे कमरे में जाते हुए मुझे डर लगता है। सुनसान सड़कों पर मुझे उसकी मौजूदगी का एहसास होता है।

मन की सारी दुविधा, सारा भय सत्यजित को बता देना चाहती थी, लेकिन जो फासला रखकर वह चल रहा था, उसमें किसी अपनेपन की कहां गुंजाइश थी! कितनी बार उसने कहा था :

'मैं कहीं बंधना नहीं चाहता। मेरी जिंदगी मेरी अपनी है, मेरा दायरा मेरा अपना है। किसीको उसमें शामिल करने की बात भी मैं नहीं सोच

सत्यजित ने मेरी जिंदगी में नई रोशनी भरी। मुझे जिंदगी की अंधेरी रातों से निकालकर एक ऐसी जगह खड़ा कर दिया, जहां से मैं दूर-दूर तक देख सकती हूं; लेकिन यह सब कुछ क्या उसने जान-बूझकर किया ? अगर नहीं, तो क्या मैंने उससे जिंदगी की भीख मांगी ?

किस जिंदगी की ? जिंदगी क्या है ?···बेतुके सवाल हैं, जिनका जवाब कभी नहीं मिलता।

बेचैनी के आलम में सत्यजित याद आता है। पहले उससे मिलने चली जाती थी, अब खुद को रोकती हूं। एकतरफा बेचैनी का इजहार कब तक किया जा सकता है ? उसके मुक्त लमहों से अपनी शामों का रीतापन कब तक भरा जा सकता है ?

उस शाम के बाद कई महीने मेरी मुलाकात सत्यजित से नहीं हुई। उस दौरान 'चक्रवात' को मैंने कई बार पढ़ा। हर बार मुझे लगा, अमित लेखक की हैसियत से शोहरत पा सकता था। उसके अंदर लेखक की मेधा थी। काश, यह एहसास पहले जागा होता ! काश, इस विषय में उसने कुछ कहा होता !···

मैं लेखिका नहीं हूं। दो-चार कहानियां कभी लिखी थीं, जो हर लड़की लिख लेती है। फिर भी मुझे लगा, अगर 'चक्रवात' छप गया तो हाथोंहाथ बिकेगा। नाम होगा, शोहरत होगी, पैसा होगा, लेकिन किसका ?

भावुकता में बही न होती, तर्क से काम लिया होता तो अमित का लिखा हुआ रीना सरकार काटकर अमित घोष लिख देती; लेकिन तब तो अमित की आखिरी ख्वाहिश पूरी करने की भावुकता थी। मैं वैसा नहीं कर पाई। आज सोचती हूं, मेरा तर्कशील दिमाग किस कुघड़ी में सोया। बहुत दिनों तक ऊहापोह में रहने के बाद 'चक्रवात' को किसी प्रकाशक के पास भेजने का फैसला कर लिया मैंने।

मेरे लिए शहर नया था। साहित्यिक क्षेत्र में किसीसे जान-पहचान नहीं थी।

इलाहाबाद से दर्शनशास्त्र में एम० ए० करने के बाद मैं दिल्ली आई

थी। कुछ दिन अपने दूर के एक रिश्तेदार के साथ रहने के बाद मुझे ऐस्ट एडवरटाइजिंग एजेंसी में कॉपीराइटर की एक जगह मिल गई। डिफेंस कॉलोनी में डेढ़ सौ रुपये की एक बरसाती लेकर मैं मां को बुलाने इलाहाबाद गई थी, लेकिन पापा का 'सुदर्शन विला' छोड़कर मेरे साथ आने के लिए मां तैयार नहीं हुई। उन्होंने मेरे साथ अपनी एकमात्र संगिनी आया को भेज दिया, जो शादी के बाद लगातार उनके साथ रही थी और सही मायनों में वही मेरी मां भी थी। सुबह-शाम की बंधी हुई ज़िंदगी, बंधा हुआ क्रम।···

किसी प्रकाशक को देने से पहले पाण्डुलिपि को टाइप करवाना ज़रूरी था। अपने ऑफिस के एक टाइपिस्ट को एक दिन पाण्डुलिपि ले जाकर मैंने दे दी।

सुरेंद्र अपने काम मे होशियार था। खाली समय में बाहर का काम भी करता था। कुछ साहित्यकारों से उसका परिचय भी था। कुछ प्रकाशकों का काम भी वह कर चुका था। 'चक्रवात' को किसी प्रकाशक को देने की बात जब मैंने कही, तब वह बड़े उत्साह से बोला : "आपकी पाण्डुलिपि टाइप करते-करते कई बार तो मैं उसे पढ़ने लगता था। बाई गॉड, क्या किताब लिखी है!'

मेरे रोंगटे खड़े हो गए थे। मैं उससे कहना चाहती थी, 'चक्रवात' मैंने नहीं, मेरे एक दोस्त ने लिखा है, लेकिन अमित की आखिरी लालसा और मेरी अंधी भावुकता फिर आड़े आई। मैं चुप रही। बड़ी देर तक वह तारीफ के पुल बांधता रहा। और तब मैंने कहा :

"पाण्डुलिपि की एक प्रति तुम्हें दे दूंगी। किसी प्रकाशक को दिखा देना, दस प्रतिशत तुम्हारा:

दूसरे दिन 'चक्रवात' की एक प्रति सुरेन्द्र के पास पहुंच गई। सुरेन्द्र ने पाण्डुलिपि किसे दी, क्या बातचीत की, मुझे नहीं मालूम। करीब तीन महीने बाद मुझे एक स्थानीय प्रकाशक का पत्र मिला, जिसमें उन्होंने चक्रवात को पसंद किया था और अनुबंध पर दस्तखत करने के लिए मुझे अपने ऑफिस में बुलाया था।

इस क्षेत्र का कोई ज्ञान मुझे नहीं था। 'चक्रवात' के प्रकाशन की बात

ही मेरे लिए बहुत बड़ी थी। मेरा मन ऊंची उड़ानें भरने लगा। चक्रवात की लेखिका, रीना सरकार। कुछ दिनों मे यह नाम लोगों की जुबान पर होगा। लोग मुझसे मिलने के इच्छुक होंगे। पाठकों के अनगिनत पत्र होंगे। जिंदगी का अकेलापन कुछ तो कम होगा।

काश, अमित की ये तेज आंखें उस दिन मुझे एक बार भी दिखी होतीं ! एक बार भी मुझे उसके नाम से, उसकी शोहरत से आतंक हुआ होता ! एक पल के लिए भी मेरी भावुकता मुझे छोड़ पाई होती।

उस शाम सत्यजित से मिली तो जैसे हवा मे तिर रही थी। इससे पहले सत्यजित से दो मुलाकातें और हो चुकी थीं। रास्ता चलते की मुलाकातें। एक बार हमने कॉफी भी पी थी। लेकिन उस दिन की मुलाकात रास्ता चलते की मुलाकात नहीं थी। दो दिन पहले टेलिफोन पर समय और स्थान निर्धारित हो चुका था।

"लगता है, आज कोई अच्छी बात हुई है।" उसने मेरी ओर देखते हुए कहा था।

"आपसे मिलने से अच्छी बात और क्या हो सकती है !" मैंने कहा तो हमेशा की तरह वह गंभीर हो गया। मेरी मुस्कराहट जम गई थी।

"माफ कीजिएगा।" थोड़ी देर की चुप्पी के बाद मैंने सफाई दी, "मैं वाकई बड़ी खुश हूं आज।"

"यही तो मैं भी कह रहा था।" सत्यजित की सहजता वापस आ गई।

मेरा मन हुआ, 'चक्रवात' के प्रकाशन की बात मैं उसे बता दूं; लेकिन फिर मैंने खुद को रोक लिया। सोचा, छपने पर एक प्रति भेंट करके चौंका दूंगी।

मैं खामोश रही। वह भी खामोश था। खामोशी खलती रही, लेकिन सत्यजित के साथ इसके अलावा हो भी क्या सकता था !

साहित्य से उसे कोई मतलब नहीं। मतलब तो मुझे भी नहीं था। दर्शन पर थोड़ी-बहुत बातें कर लेता है। पेशे से इंजीनियर। दुनियावी नाते-रिश्ते से बिलकुल अलग। लेकिन कुल मिलाकर उसकी शख्सियत में ऐसा कुछ है कि उससे मिलने को दिल करता है।

काफी देर चुप रहने के बाद मुझे अपनी आवाज सुनाई पड़ी थी :

"एक वात पूछूं ?"

"पूछिए।" उसका छोटा-सा जवाव था।

"अगर मैं हफ्ते में एक वार आपसे मिलना चाहूं तो आप समय निकाल सकेंगे ?" मुझे अपने सवाल पर उस दिन भी हैरानी हुई थी। एक वार उस से मिलने पर काफी दिनों तक फिर न मिलने की वात मैंने हर वार सोची थी।

सत्यजित ने एक वार मेरी ओर देखा, फिर उसकी आंखें कहीं दूर उलझ गईं। उसने कोई जवाव नहीं दिया।

"ज़्यादा है ?" मुझे लगा, मैंने एक वेतुका सवाल फिर पूछ लिया।

"नहीं, मेरे पास समय की कमी नहीं है फिलहाल।"

"फिर ?"

'कुछ नहीं। मैं सोचने लगा था, हफ्ते में एक वार आप मुझसे क्यों मिलना चाहती हैं ?"

'इसलिए कि कहीं साथ वैठेंगे, कुछ वातचीत होगी, थोड़ा वक्त गुज़र जाएगा।" मैंने सफाई दी।

"ठीक है, हम मिल सकते हैं।"

"लगता है, समय गुज़ारना आपके लिए कोई समस्या नहीं ?" मेरा दूसरा सवाल था।

"नहीं।" मेरे वेमानी सवाल का वेहतरीन जवाव था। फिर खामोशी।

व्यक्तिगत वातचीत सत्यजित को पसंद नहीं। वहस-मुवाहिसे में क[म] ही पड़ता है। वरसों उसने खुद को कितावों में वन्द रखा है, लेकिन ये वा[तें] मुझे तव नहीं मालूम थीं। उस दिन वड़ा अजीव लगा था। मैंने उस [दिन] मन ही मन फिर फैसला किया था, आइंदा इससे मिलने की वात [नहीं] सोचूंगी।

"क्या सोच रही हैं ?" काफी देर वाद उसीने पूछा था।

"कुछ भी नहीं।" मैंने कहा।

"कुछ तो ?"

"जव कोई अनचाहा सवाल सामने आए तो जवाव कैसे देना चा[हिए]

"तो फिर हमारी मुलाकात अगले हफ्ते हो रही है ?"

"यह तो आपपर निर्भर करता है।"

"मैंने कहा था, मैं खाली हू आजकल।"

"मुलाकात खाली रहने से नही, चाहने से होती है।"

"खाली रहना भी तो जरूरी है मुलाकात के लिए।"

"खाली रहते हुए भी अगर आप न चाहें तो मुलाकात कैसे हो सकती है?"

"आप मिलना चाहेगी तो मुझे कोई एतराज नही।"

"मेरा खयाल है कि मिलने की बात मैंने ही कही थी।"

"तो ठीक है। अब मैं इजाजत चाहूगा।"

सत्यजित चला गया। मैं उसे जाते हुए देखती रही।

घर पहुंची तो दिन-भर की सारी खुशी गायब हो चुकी थी। मन एकदम खाली था। बहुत दिनो बाद अकेलापन खलने लगा। आया पास आई, लेकिन उससे बात करने का मन नही हुआ। जैसे-तैसे खाना खाकर मैंने कमरे की बत्ती बंद कर दी।

"क्या बात है बेटा, आज पढोगी नही?"

"नही आया, काम बहुत करना पड़ा है। नीद आ रही है।"

लेकिन मुझे अच्छी तरह याद है, उस रात बड़ी देर तक मैं जागती रही। सत्यजित, उसका अजनबीपन बार-बार मन मे उभरता रहा।··· चकाचौंध, उसमे मिलनेवाला नाम, शोहरत कुछ भी मन को बाध नही पाया। शायद पहली बार उस रात अमित का खयाल नही आया।

२

मैं इस समय कहां हूं, क्या कर रही हू, जैसे सवाल बेमानी है। वर्तमान या भविष्य का लेखा-जोखा कोई मायने नही रखता। इस समय मेरे लिए सबसे जरूरी अतीत है, जिसके पन्ने पलटकर जिदगी की गुजरी हुई शामें मैं ताजी कर लेना चाहती हू। शायद आखिरी बार, क्योंकि इसके बाद हमेशा-हमेशा के लिए मैं इससे कट जाना चाहती हूं। तब मेरे सामने क्या होगा, मुझे पता नही। हो सकता है, रोशनी के अनगिनत बगूले फूटते

रहूं; हो सकता है, अंधेरे की गहरी खाइयों में मैं मुक्ति पा लूं।

जिंदगी का आखिरी जुआ खेलने की बात बड़ी शिद्दत से महसूस करने लगी हूं। सोचती हूं, सत्यजित को सारी बात बतानी ही होगी। यहां पर एक वाजिब सवाल मुझसे किया जा सकता है, सत्यजित को सारी बात बताकर मैं क्या पाना चाहती हूं? उसकी सहानुभूति? आगे की ज़िंदगी के लिए उसका सहारा?

सहारा? हो सकता है, चाहती हूं; लेकिन इस समय मैं स्वीकार नहीं करूंगी, क्योंकि वह सच नहीं होगा। इस समय उसे सब कुछ बताकर शायद मैं अपना बोझ हलका करना चाहती हूं।

सत्यजित, जिसने मेरी ज़िंदगी में नई रोशनी भरी। जीने की प्रेरणा दी, भविष्य की आशाएं मेरे सामने उंडेल दीं···। उसके लिए और अपने लिए भी अतीत का दोहराना जरूरी हो गया है।

देव के साथ मैंने ज़िंदगी देखी थी, समझी थी। तब मैं एक ऐसी दुनिया में रहती थी, जहां खुशियों के सब्ज़बाग थे। चारों ओर फूलों की खुशबू थी, झरने की तरह स्वच्छंद मुक्त हंसी थी। इलाहाबाद की सड़कें थीं, सिविल लाइंस के रेस्तरां थे। घर था; कभी उसका, कभी मेरा। मैं थी, देव था।

मेरी सहेलियां कहतीं: "देव बड़ा शातिर है, संभलकर रहना।"

मैं हंसकर उन्हें चिकोटी भरती, मुंह चिढ़ाती।

देव को लेकर मेरी बात मां से कभी नहीं हुई। काफी दिन तक पापा से भी नहीं हुई, लेकिन बाद में एक दिन उन्होंने जिक्र किया तो मैंने उन्हें सब कुछ बता दिया। देव का वायदा था, अमरीका जाने से पहले वह शादी करेगा, फिर हम साथ-साथ जाएंगे। उसी दिन पापा ने देव के प्रति मेरा आकर्षण अस्थायी बताया था और हमारी सम्मिलित ज़िंदगी के बारे में शक किया था। लेकिन देव से मेरी मुलाकातों पर इसका कोई असर नहीं पड़ा। पापा के शक की बात मैंने देव को नहीं बताई। वक्त गुज़रता रहा।

बी० ए० फाइनल का इम्तहान हो चुका था। जून के आखिरी हफ्ते में रिज़ल्ट आना था। पापा ने मनाली जाने का प्रोग्राम बनाया था। पंद्रह मई से पंद्रह जून तक की छुट्टी भी उन्हें मिल गई थी। इसी बीच एक

शादी आ पड़ी। मां का इरादा था, मुझे साथ लेकर शादी में जाएंगी, फिर सब लोग साथ जाएंगे। लेकिन शादी में जाने का मेरा कतई मूड नहीं था। मैंने मां से कहा : 'पापा को अकेले छोड़ना मुझे अच्छा नहीं लगता।' मजबूरन मां को अकेले जाना पड़ा था। उनके लौटने का इंतजार था, फिर हम छुट्टियां मनाने जाने वाले थे।

[लेकिन सोची हुई सारी बातें अगर ठीक ढंग से होती जाएं तो खुदा की कुदरत का जायजा कैसे मिले] नौ मई की रात पापा को दिल का दौरा पड़ा और ट्रंककॉल पर खबर पाकर दस की शाम जब मां वापस आईं तो पापा दम तोड़ चुके थे।

देखते-देखते जिंदगी की तस्वीर बदल गई। मां हमेशा के लिए पत्थर हो गईं। बहुत दिनों तक मैं सकते में रही। पापा ने मेरी आंखों के सामने दम तोड़ा था, लेकिन मुझे विश्वास नहीं होता था कि पापा इस दुनिया में नहीं हैं। बी० ए० का रिजल्ट जब निकला तो मुझे पहली बार पापा की गैर-मौजूदगी का एहसास हुआ, इसलिए नहीं कि ओमेगा की घड़ी मुझे नहीं मिली। इसलिए कि प्रथम श्रेणी में अपना नाम देखकर मैं अखबार लिए आंधी की तरह पापा के कमरे में पहुंची। कमरा खाली था। स्वच्छ-ताजे बिछे हुए पापा के बिस्तर पर मुंह के बल लेटकर उस दिन पहली बार मैं फूट-फूटकर रोई। कब तक रोती रही, मालूम नहीं। कब मुझे नींद आ गई, यह भी नहीं पता। मां ने आकर जब उठाया तो दीवार-घड़ी में छः बजे थे। मां की आंखों में भी उस दिन पहली बार आंसू आए थे।

बिस्तर से उतरकर मैं नीचे खड़ी हुई। आंसुओं से भीगे अखबार को एक ओर फेंकते हुए मैं कटी पतंग की तरह मां की बांहों में आ गई थी। मां-बेटी एक-दूसरी से लिपटकर उस दिन पहली बार रोई थीं। दरअसल उसी दिन मुझे लगा, पापा हमें छोड़कर हमेशा के लिए चले गए हैं और अब कभी नहीं आएंगे।

शाम होते-होते कुछ लोग बधाई देने आए। मैं किसीसे नहीं मिली। देव बड़ी देर तक कमरे में बैठा रहा। मैं उठी भी नहीं। उसने बड़ी तसल्लियां दीं। कई बार हाथ पकड़कर उठाने की कोशिश की, लेकिन मैं बिस्तर पर पड़ी रही। आखिर में हारकर वह भी चला गया।

मुझे उसकी हर बात में बनावट नजर आने लगी। ज्यादा से ज्यादा मैं उससे कटने लगी। यहां तक कि चाहकर भी मेरा चोट खाया मन उससे पूछ नहीं सका.

'पापा के मरते ही अचानक तुम्हें क्या हो गया? तुम इतने बदल क्यों गए? हमेशा की अपनी रीना तुम्हें पराई क्यों लगने लगी?'

जुलाई में यूनिवर्सिटी खुली तो मैं पापा के मरने के बाद घर से [बाहर निकली। हर ओर से मिलती हुई सहानुभूतियां मुझे खलती रहीं। हर ओर से समेटकर मन को किताबों में बांधना मुझे कभी-कभी नामुमकिन मालूम पड़ता।

मां के रवैये में कोई फर्क नहीं आया। उनका ज्यादा से ज्यादा वक्त पूजा-पाठ में गुज़रता। पापा का कमरा विधिवत् वह खुद साफ करतीं। बिस्तर झाड़कर रोज़ चादर बदलतीं। ताज़े फूलों का गुलदस्ता मेज़ पर रोज़ लगा देतीं। हमेशा की तरह अगरबत्ती का धुआं रोज़ कमरे में भरता। पापा की बरसी तक यह सिलसिला चलना था।

जुलाई के आखिरी हफ्ते में देव अमरीका चला गया। आखिरी बार जब मिला तो पुरानी बातों का हवाला दोनों ओर से किसीने नहीं दिया। अपनी शुभकामनाएं एक-दूसरे को देते हुए दोनों अलग हो गए। उदासी और खालीपन के सैलाब में हाथ-पैर मारती मैं जैसे-तैसे क्लास अटेंड करती रही। घर आकर कटे हुए पेड़ की तरह औंधे मुंह बिस्तर पर गिरती रही। वक्त गुज़रता रहा। उसे किसीका इंतज़ार नहीं था।

"चार बजकर पैंतीस मिनट," मैंने सत्यजित की घड़ी में समय देखते हुए एक दिन कहा था : "लगता है, समय पर लगाकर उड़ा जा रहा है।"

["समय की गति हमेशा एक होती है," वह हंसा था . "अपने मूड के हिसाब से कभी आप उसे भागता हुआ पाती हैं, कभी आपको लगता है, वह रुक गया है।']

सत्यजित ने कोई खास बात नहीं कही थी, मैं भी इतनी बात समझती हूं, लेकिन उस दिन उसका यह कहना बड़ा बुरा लगा था।

"आपको समय गुज़ारना कभी भारी नहीं पड़ता ?" मैंने चिढ़कर पूछा था।

"पड़ता है।" उसका जवाब सुनकर मुझे खुशी हुई थी।

"फिर आप क्या करते हैं ?" मैंने पूछा था।

"करूंगा क्या ! पड़कर सो जाता हूं।" उसकी मुस्कान कायम थी।

"नींद आ जाती है ?"

"आएगी क्यों नहीं ! जब करने के लिए कुछ न हो तो आदमी क्या करेगा ?" उसने बड़ी सरलता से पूछा था।

"सोना ही बेहतर है।" एक हलकी-सी आह मेरे मुंह से निकली थी : "लेकिन नींद भी चंद खुशनसीबों को आती है।"

"मुझे हमेशा आ जाती है।"

"तो आप उन चंद खुशकिस्मत लोगों में हैं।"

सत्यजित गंभीर से गंभीर बात में बड़ी आसानी से हलके रंग भर देता है। उसकी यह आदत बड़ी अच्छी लगती है। उसके साथ कोई भी ज्यादा देर तक किसी गंभीर चिंता में नहीं रह सकता।

यहां तक तो ठीक है, लेकिन चिंता से मुक्ति पाकर भी कोई क्या करेगा ?

सत्यजित के पास इसके बाद देने के लिए क्या है ? अजहद खामोशी, जिसमें एकतरफा आग में जल-जलकर खुद को मिटाने के अलावा कोई चारा नहीं है !

काश, अमित ने ही कुछ और बातें सत्यजित के बारे में बताई होतीं ! मुझे तो इतना ही पता था कि मुझसे मिलने से पहले अपनों के नाम पर दुनिया में अमित का सिर्फ एक दोस्त है—सत्यजित।

इसके आगे एक बड़ा-सा प्रश्नचिह्न था। सत्यजित, जो अपनी ओर से कभी कुछ नहीं कहेगा। पूछे गए सवालों का भी कम से कम जवाब देगा। अपने में डूबा रहेगा—हर तरह से संतुष्ट।

अमित को क्या मालूम था, सत्यजित को मुझसे मिलाकर उलझनों के घने जाल में वह मुझको जकड़ देगा, जिनसे निकल भागने की कोशिश में

लगातार मैं उनकी गांठें मजबूत करती जाऊंगी।

पापा और देव से अलग होकर मैं एक जिंदा मशीन बन गई। दिन, हफ्ते और महीने गुज़रते चले गए।

दशहरे की छुट्टियां बड़ी नागवार गुज़रीं। तीन साल बाद बुआजी इंडोनेशिया से वापस आई। पापा के गुज़रने का जख्म एक बार फिर हरा हुआ। वैसे भरा ही कब था ? बुआजी के आने से मां की जड़ता थोड़ी दूर हुई। बुआजी के साथ आंसू बहाते हुए मैंने उन्हें कई बार देखा। दर्द जब आंसू बनकर बहने लगे तो मन हलका हो जाता है। मुझे अच्छा लगा। खुद को किताबों में बांधने की मैंने जी-जान से कोशिश की। लाइब्रेरी जाना शुरू कर दिया।

अमित से मेरी मुलाकात वहीं हुई थी। कुछ दिनों से एक अनजान चेहरा मुझे परिचित लगने लगा था। लाइब्रेरी में हमेशा मेरे बाद आता और सामने या बगल की सीट पर बैठ जाता। जब मैं स्टडी हॉल से बाहर आ जाती तो अपनी सीट से उठता और धीरे-धीरे बाहरी दरवाज़े की ओर चल पड़ता। बाहर आकर वह कहां जाता, यह देखने के लिए मैं कभी नहीं रुकी। और अपनी ओर से शायद उसने मेरा पीछा करने की कभी कोशिश नहीं की।

यह क्रम काफी दिनों तक चला, लेकिन 'हलो' या बातचीत की पहल किसी ओर से नहीं हुई। फिर भी हमारी आंखें जब मिलतीं तो उनमें 'हलो' जैसी ही कोई चीज़ होती, या हम खामोश रहकर भी एक-दूसरे का हाल-चाल पूछ लेते।

इसी आलम में एक दिन अपनी नोट-बुक मैं लाइब्रेरी की मेज़ पर भूल आई। दूसरे दिन तक मुझे उसका एहसास नहीं हुआ।

पहले पीरियड में उस दिन कुछ देर हो गई थी। तेज़ी से मेरे कदम क्लासरूम की ओर बढ़ रहे थे कि सुनाई पड़ा :

"एक्सक्यूज़ मी, मिस सरकार!"

घूमकर देखा। अपरिचित होते हुए भी वही परिचित चेहरा सामने था।

"मेरा नाम अमित है। कल आप यह नोट-बुक लाइब्रेरी में भूल आई थीं।"

हाथ में पकड़ी हुई किताबों पर नज़र गई। नोट-बुक वहां नहीं थी। अमित के हाथ में अपनी नोट-बुक देखकर अजीब-सा लगा। अपनी बेखुदी का इजहार मुझे पसंद नहीं था। शुक्रिया अदा करते हुए मैंने नोट-बुक उसके हाथ से ले ली।

इसके बाद सिलसिला चल पड़ा। मुलाकात रोज़ होती। 'हलो' के बाद हालचाल की औपचारिकता निभाई जाती। कभी-कभी कॉफी तक भी बात आई और फिर दोस्ती में बदलने लगी।

अमित को मैंने फौरन स्वीकार कर लिया, ऐसी बात नहीं थी। कितनी ही बार मैंने उसे साफ-साफ काट दिया। जाने कितनी सख्त बातें कहीं, लेकिन उसका स्वभाव भी गजब का था।

मेरी किसी बात का उसने कभी बुरा नहीं माना। एक दिन किसी वजह से यूनिवर्सिटी नहीं गई तो घर आ गया। मुझसे मिलने के बजाय मां से मिला। बड़ी देर तक मीठी-मीठी बातें करता रहा। मां ने एक-दो बार मुझे बुलाने की बात कही तो उसने मना कर दिया।

कहने का मतलब यह कि मां के मन पर पूरी तरह अपना सिक्का जमाकर वापस चला गया। रात को खाना खाते समय मां ने बताया :

"अमित आया था।"

"अमित ? कौन अमित ?" मैं चौंकी।

"वही, जो तेरे साथ लाइब्रेरी में बैठता है।"

"लाइब्रेरी में तो जाने कितने विद्यार्थी बैठते हैं, उनमें से अमित भी कई हो सकते हैं; इसका मतलब यह तो नहीं कि सभी मेरे घर हाज़िरी देते फिरें !"

मां समझ गईं, मुझे उनकी बात अच्छी नहीं लगी।

"इसमें बुरा मानने की क्या बात है रीना ! तेरा हाल-चाल पूछने आया था।"

"मैंने बुरा तो नहीं माना मां, वैसे मेरी खास जान-पहचान भी नहीं है उससे।"

"नहीं है तो हो जाएगी। लड़का अच्छा है।"

मैंने मा की ओर देखा। उनकी आखों में सुकून नज़र आया। मैं चुप रह गई थी।

अमित से मेरी दोस्ती बढ़ी, इसमे मा का काफी बड़ा हाथ था। अमित का अनाथ मन मां के आंचल मे सुकून पाता रहा। बेटे के प्यार का भूखा मां का मन उसके लिए सारी सुख-सुविधाएं जुटाता रहा।

मैं जानती हूं, पापा अमित को पसंद करते। अपने दामाद के रूप में उसे पाकर उन्हें खुशी होती।

और मेरे लिए देव और अमित का कोई मुकाबला न था। देव के दिए हुए ज़ख्मों को अनजाने ही वह भरता गया। मुझे वह सब कुछ उसमे मिला, जो मैं देव से पाना चाहती थी। देव के लिए मा क्या सोचतीं, मुझे मालूम नहीं। पापा ने अपनी राय जाहिर कर दी थी, लेकिन कुछ कहने के लिए उन्हें दुनिया में वापस नही आना था। और देव, जो पापा के आख बंद करते ही बदल गया, अमरीका से वापस आकर भला मुझे क्या पहचानता! मेरा-उसका संबंध पापा के साथ ही खत्म हो गया था।

अमित ज्यों-ज्यो मेरे करीब आता गया, एक बात मेरे मन में दृढ होती गई और एक दिन मैंने उसे देव के बारे मे सब कुछ बता दिया।

सुनकर कुछ देर वह चुप बैठा रहा। मैंने सोचा, चलो एक जजाल से फुर्सत मिली। अपने-आप वापस चला जाएगा। लेकिन मेरा सोचना गलत था। थोड़ी देर बाद वह ज़ोर से हंस पड़ा। बड़ी देर तक हंसता रहा।

मुझे बहुत बुरा लगा। पहले तो उसकी हंसी मैं सहती रही, जब नहीं सहा गया तो चिढकर बोली :

"इसमे हंसने की क्या बात है?"

वह गभीर हो गया। अब मुझे लगता है, सत्यजित और अमित की गंभीरता मे कितना साम्य है!

उसने मेरा हाथ अपने हाथ मे ले लिया

"माफ करना, कभी-कभी मुझे यू ही हंसी आ जाती है।" फिर थोड़ी देर बाद : "देव तुम्हारे लिए नही था रीना…तुम्हारे लिए मैं हूं। मेरी

ओर देखो। दुनिया की तमाम खुशियां तुम्हारे आंचल में भर दूंगा। मैं…अमित…तुम्हारा अमित…।"

उसकी आंखें छलक आई थीं। आंखें मेरी भी नम हो आईं। बड़ी देर तक वह न जाने क्या-क्या कहता रहा :

"देव एक सपना था, जिसे टूटना ही था…क्योंकि उसके रास्ते में मैं था। मेरे रहते वह तुम तक पहुंच नहीं सकता था…मैं सपना नहीं हूं…हमारा जन्म ही एक-दूसरे के लिए हुआ है…हमारा एक घर होगा, हम होंगे…मां का असीम प्यार होगा…"

उसकी बातों में जादू था। उसके स्पर्श में सम्मोहन था। उसकी बातें सुनते-सुनते न जाने कब मैं रोने लगी थी। वह और भी कुछ कहता, शायद कहता चला जाता, लेकिन मेरी सिसकियां बढ़ने लगीं तो वह चुप हो गया। उसने प्यार से दूसरा हाथ मेरे कंधे पर रखा, अपनी ओर हलके से खींचा।

मुझे शायद इसीका इंतज़ार था। मैंने अपना मुंह उसके सीने में छिपा लिया। मेरी सिसकियां बढ़ती गईं। उसके प्यार का दबाव बढ़ता गया।

समय पर लगाकर उड़ने लगा।

सत्यजित कहता है, समय की कोई गति नहीं। मूड के हिसाब से उसके गुज़रने का एहसास हमें होता है। जानती हूं, पर मानने को मन नहीं होता। अमित की बांहों में गुज़रा हुआ वह समय…और अस्पताल के बिस्तर पर ज़िंदगी और मौत के संघर्ष का वह समय, दोनों ही मेरी आंखों में सजीव हैं। दोनों की गति महसूस न कर पाने की बात मैं कैसे कह सकती हूं!

अमित की बात छोड़ भी दूं तो सत्यजित के साथ गुज़ारे हुए और कमरे के खालीपन में गुज़ारे हुए समय की गति क्या मैं नहीं देखती? आइंस्टाइन कहते हैं, समय चौथा आयाम है, उसकी कोई गति नहीं, अलग से अपने में उसका कोई महत्त्व नहीं। मैं कहती हूं, गति कैसे नहीं? महत्त्व कैसे नहीं? मैं जो सबसे कटकर यहां बैठी हूं, वक्त क्या मेरे लिए जम नहीं गया है? सत्यजित के सिर्फ एक शब्द का इंतज़ार है मुझे। इससे बढ़कर समय का महत्त्व मेरे लिए और क्या हो सकता है? एक शब्द, जो रोशनी

का दायरा मेरे चारों ओर बना सकता है। जिसके घेरे में बैठकर मैं खुद को दुनिया के सामने रख सकती हूं, कि यह मैं हूं, यह रोशनी मेरी है, यह दायरा मेरा है। या फिर अंधेरे की गहरी परतों में हमेशा-हमेशा के लिए मैं सो सकती हूं। उस एक शब्द को पाने का समय, उस तक मेरे पहुंचने की गति, उसका महत्त्व कैसे नहीं है?

इस वर्तमान से समझौता न करने का अहद मैं कर चुकी हूं। कई महीने पहले, 'पक्षपात' की प्रसिद्धि के बाद कुछ इसी तरह का अहद करते हुए मैंने मरने की सोची थी। जिंदगी में है क्या? किसके लिए जिया जाए? अपने लिए जीना भी कोई जीना है? कितने ही सवाल उठे थे मन में और जिंदगी खत्म करने की बात मैंने तय कर ली थी।

मुझे अच्छी तरह याद है, यह बात मैंने किसी से नहीं कही थी। सत्यजित से मिले कई दिन हो चुके थे। संपर्क न करने की जिद मैं निभाए जा रही थी। तभी एक दिन सत्यजित का टेलिफोन पाकर मुझे ताज्जुब हुआ था। मैंने उसे अपना नंबर नहीं दिया था। डायरेक्टरी तलाशने की ज़हमत मोल लेने का भी कोई कारण होगा ही। शाम को मिलने की बात तय हो गई थी।

और शाम को जब मुलाकात हुई:

"इधर कई दिनों में सोचता रहा हूं। आप अगर गलत न समझें तो एक बात कहना चाहूंगा।" कॉफी की दो-तीन चुस्कियां लेने के बाद असाधारण रूप से गंभीर सत्यजित बोला था।

"कहिए!" मैं सोचने लगी, वह बात क्या हो सकती है, जिसे सोचने में इसने कई दिन लगाए।

"पहले आपको वायदा करना होगा, जो बात मैं कहूंगा, उसे आप मानेंगी।"

मुझे फिर ताज्जुब हुआ। किसी की बात से कभी न बंधने वाला सत्यजित आज किसी को प्रतिबद्ध क्यों करना चाहता है?

"आप कहिए तो सही।"

"पहले आप वायदा कीजिए।"

"जो काम करना आप खुद पसंद नहीं करतीं, वह दूसरों से क्यों कर-

वाना चाहते हैं ?"

"इसका जवाब मैं आपको दूंगा, पहले आप वायदा कीजिए।"

"आप जवाब दीजिए, मैं वायदा कर लूंगी।"

"हर बात का एक उचित समय होता है। समय आने पर आपको हर सवाल का जवाब मिलेगा। आप वायदा कीजिए।"

"तो समझ लीजिए, वायदा करने का भी एक समय होता है। उसके आने पर वह भी कर लूंगी।"

"लेकिन उसका समय तो आज है, अभी।"

"आपके हिसाब से।"

"आपके भी। प्लीज़, प्रॉमिस मी।"

"क्या ?" मुझे उसके इसरार पर हैरानी होती रही।

"यही कि आप मेरी बात मानेंगी।"

सत्यजित का हाथ मेरी कुहनी पर आ गया। उसकी आंखें मेरे चेहरे पर थीं। उन आंखों में कुछ था, जिसके सामने मेरी आंखें झुक गई थीं। कुहनी पर रखे हुए सत्यजित के हाथ का स्पर्श मैं महसूस करती रही।

"मिस सरकार, प्लीज़!" उसके हाथ का दबाव बढ़ा।

"अच्छा बताइए, क्या बात है ?"

मुझे लगा, मैं सत्यजित की बात काट नहीं सकती। मैंने उसकी बात मानने का वायदा कर लिया। उसके हाथ का दबाव ढीला पड़ा। धीरे-धीरे उसने मेरी कुहनी छोड़ दी।

"ज़िन्दगी से ऊबकर अकसर लोग मरने की बात सोचते हैं। आप ऐसा कभी नहीं सोचेंगी।" वह बोला।

मैं एकटक उसकी ओर देखती रही। मुझे लगा, वह मन को पढ़ लेने का जादू जानता है।

"मैंने तो ऐसा कभी नहीं सोचा।" मैंने कहा।

"अपने प्रति ईमानदारी सबसे बड़ी चीज़ मानता हूं। अगर आपने ऐसा नहीं सोचा तो आगे भी मत सोचिएगा।"

"लेकिन मेरे मरने-जीने से आपका क्या ताल्लुक ?"

"वैसे तो कुछ भी नहीं; पर मुझे लगता है, आपको जीना चाहिए। इस

दुनिया, इस समाज से आप इंसाफ की हकदार है।"

"इस दुनिया और आपके इस समाज में इंसाफ नाम की कोई चीज है कहीं ?" मुझे उसकी बातों में मज़ा आने लगा।

"पहली बात तो यह कि यह दुनिया, यह समाज मेरा नहीं; लेकिन किसीका भी हो, उससे कोई फर्क नहीं पड़ता, इंसाफ तो होना ही चाहिए।"

"लेकिन मुझे तो अपने साथ कोई बेइंसाफी नज़र नहीं आती।"

"यह आपका बड़प्पन है। आपने मेरी बात मान ली, मैं आपका शुक्रगुज़ार हूं।"

"मैंने आपकी कौन-सी बात मान ली ?" मैं मुस्कराई।

"अभी आपने कोई वायदा किया है ?"

"आपने करवाया है।"

"इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। आपने किया तो है !"

"हां, किया है।"

"तो फिर हाथ मिलाइए। आज से आप मरने की बात कभी नहीं सोचेंगी।"

मेरा हाथ अपने-आप आगे बढ़ गया। मुझे अपनी कमज़ोर-सी आवाज सुनाई पड़ी :

"लेकिन मरने की बात मैंने सोची कब ?"

"अब तक नहीं सोची तो आगे भी नहीं सोचेंगी। वायदा आगे के लिए सही।" बड़ी देर बाद सत्यजित के होंठों पर मुस्कराहट आई थी।

मैं गंभीर हो गई। थोड़ी देर बाद सत्यजित ने धीरे-धीरे मेरा हाथ छोड़ दिया।

"आपको कैसे पता चला, मैं मरने की बात सोच रही हूं ?" मैंने पूरी गंभीरता से सवाल किया।

"टेलिपैथी समझ लीजिए।" वह मुस्कराता रहा।

"मज़ाक नहीं, सच-सच बताइए।"

"यह जानना आपके लिए ज़रूरी नहीं।"

"मेरे लिए क्या ज़रूरी है, क्या गैरज़रूरी, इसका फैसला कौन करेगा ?"

मेरी आवाज़ कुछ तल्ख हो उठी थी।

"वैसे तो आप ही करेंगी; लेकिन कभी-कभी यह अधिकार दूसरों को भी मिलना चाहिए।"

"और उन दूसरों में शायद आपका नंबर पहला है?"

सत्यजित गंभीर हो गया। मुझे अपनी तल्खी पर अफसोस हुआ।

"ऐसी खुशफहमी मुझे नहीं है," वह बोला: "लेकिन हर ज़रूरी बात ज़रूरी होती है। हर पैदा होने वाले आदमी का ज़िंदगी पर हक होता है। उसे जीना चाहिए। अगर आपके मन में एक कमज़ोरी आती है तो हर जानने वाले का फर्ज होता है कि आपको उससे रोकने की कोशिश करे। यह जान लेने का गुनाह अगर मेरा है तो मैं सज़ा का हकदार हो सकता हूं, लेकिन आप वायदा कर चुकी हैं।"

"यही तो मैं जानना चाहती हूं, उसका पता आपको कैसे चला?..."

सत्यजित से कोई बात इतनी आसानी से निकलवाई नहीं जा सकती। उस दिन घंटों मगज मारने के बाद उसने सिर्फ इतना स्वीकार किया:

"इधर की आपकी हर रचना ध्यान से पढ़ता रहा हूं। साप्ताहिक 'सृजन' में छपा हुआ लेख आप एक बार ध्यान से पढ़िए, आपको अपने सवाल का जवाब मिल जाएगा।"

मैं खामोश हो गई। सत्यजित के हाथ रेस्तरां की मेज़ पर टिके हुए थे। मन हुआ, एक बार उसे छूकर देखूं, कैसा लगता है। बड़ी देर तक मैं अपलक उसकी कुहनी को उंगलियों तक देखती रही।...

दोनों चुप थे। दो या तीन, पता नहीं कितनी कॉफी पी। उस रात सत्यजित पहली बार मुझे घर के नज़दीक तक छोड़ गया। 'गुडनाइट' कहते समय उसने धीरे से मेरा गाल थपथपाया। मैं हत्‌बुद्धि उसे देखती रही...

३

'चक्रवात' छपने के साल-भर बाद मेरी ज़िंदगी का नक्शा बदल गया। डिफेंस कॉलोनी की बरसाती छोड़कर मैं जोरबाग में दो बेडरूम का एक

मकान लेकर रहने लगी। सुबह उठकर घर में ही कुछ देर इधर-उधर करके दफ्तर और फिर दफ्तर से घर का क्रम टूट गया। घर का साजो-सामान बदल गया। दो दिन के लिए मां आई तो दस दिन रहकर गई। स्कूटर के बजाय अब मैं कभी-कभी टैक्सी में सफर करने लगी।

राजधानी में मेरा नाम लिया जाने लगा। पास-पड़ोस के लोग मुझे पहचानने लगे। प्रकाशक ने एक हजार महीना पर सपादक का पद मुझे देना चाहा, लेकिन मैंने मना कर दिया। इसलिए नहीं कि फेस्ट एडवरटाइजिंग एजेंसी से मुझे खास लगाव था, मना इसलिए किया कि सत्यजित को यह बात पसंद नहीं आई : "लेखकों को प्रकाशकों की नौकरी नहीं करनी चाहिए।" उसने कहा था।

'चक्रवात' की छपी हुई प्रति देखकर सत्यजित विस्मय और खुशी से भर उठा था।

"आपकी पर्सनलिटी के कितने रूप मुझे दर्ज करने होंगे?" उसने पूछा था।

"कितने कर लिए हैं अब तक ?"

"बीस तो हो चुके हैं।"

"तो उनमें एक और जोड़ लीजिए।"

मैं कह तो गई, लेकिन कोई चुभन महसूस हुई थी। 'चक्रवात' का मुखौटा मुझे कितने दिन असलियत से दूर रख सकता है?

वैसे 'चक्रवात' को प्रकाशक को देने के बाद ही मैं लिखने के बारे में गंभीरतापूर्वक सोचने लगी थी। कई कहानियां, कई लेख लिख डाले थे। लेख तो सामयिक थे, इसलिए इधर-उधर भेज दिए। उनमें से कुछ छोटी-मोटी पत्रिकाओं में छप भी गए; लेकिन कहानियां मैंने सोचा था, 'चक्रवात' की प्रतिक्रिया देखने के बाद ही कहीं भेजूंगी।

साहित्यिक सभा-सोसायटी में आना-जाना, उठना-बैठना होने लगा। लोग मुझे जानने लगे। उत्सुक आंखें मेरे स्वागत के लिए उठने लगीं। लोगों को मुझसे मिलकर खुशी होती। सात सौ रुपये की नौकरी करते करते हजार का चेक आसमान से टपक पड़ा। लेखक होने की शोहरत और इज्जत ऊपर से।

और इन सबकी प्रतिक्रिया मेरे ऊपर वही हुई, जो होनी चाहिए। मैं यह भूल गई कि 'चक्रवात' मैंने नहीं, अमित ने लिखा है। मुझे यह लगने लगा, 'चक्रवात' में ऐसी कोई खास वात नहीं, जो अमित की कलम से ही लिखी जा सकती थी, रीना सरकार उसे लिखने में असमर्थ है।

'चक्रवात' जिन दिनों प्रेस में था, उन्हीं दिनों सारी हिम्मत बटोर-कर मैंने एक उपन्यास लिखना शुरू कर दिया था। मैंने यह वात सिर्फ सत्यजित को वताई थी।

"तो लेखिका वनने का फैसला आपने कर लिया है ?" वह मुस्कराया था।

"फैसला तो नहीं किया। लिखने में मज़ा आता है, इसलिए लिखना चाहती हूं।"

"यह तो दोहरे फायदे की वात है।"

"कैसे ?"

"लिखने में आपको मज़ा आता है, यह एक फायदा। वगैर किसी कोशिश के आप लेखिका वनी जा रही हैं, यह दूसरा।"

"हिसाव-किताव लगाने में आप खासे तेज़ मालूम पड़ते हैं।"

"इसके अलावा मैंने किया भी क्या है ?"···

"आपकी ज़िंदगी में कोई काफी नज़दीक तक आया है ?" अचानक मैं एक दिन पूछ वैठी थी।

"मैंने उस ढंग की ज़िंदगी जी नहीं।" उसके होंठों पर मुस्कराहट थी।

"अव तक क्या करते रहे ?"

"कितावों में सर खपाता रहा। दो साल तक तो पक्की योग-साधना की है।" वह मुस्कराया।

"मतलव···?" मैं अपनी वात अधूरी छोड़कर उसकी ओर देखने लगी।

"गेरुआ कपड़े नहीं पहने थे, लेकिन घंटों समाधि में रह सकता था।"

"धर्म पर विश्वास रखते हैं ?"

"नहीं मम, मेरा आदर्श आदर्श के लिए प्रयत्न करना है।"

"आदर्श के आग्रह-आग्रह में, शादी न करना जरूरी है?"

"जरूर है यही मानता। मेरे विचारों के अपने मूल्य हैं। अपने लिए निश्चय कर चुका हूँ।"

"विवाह के बारे में क्या विचार है?"

"विवाह का विरोधी नहीं हूँ; लेकिन इसका कोई निर्णय लेने से पहले अच्छी तरह सोच लेना चाहिए। विवाह के लिए विवाह करने की कोई तुक नहीं है।"

उसके बाद मैंने कुछ नहीं पूछा। थोड़ी देर वह भी चुप बैठा रहा, फिर बोला :

"एक बार शेक्सपियर से किसी ने पूछा, 'एक से एक खूबसूरत लड़कियाँ तुम्हें मिल सकती थीं, फिर तुमने ऐसी लड़की से शादी क्यों की, जो न तो सुन्दर है और जो उम्र में भी तुमसे काफी बड़ी है?' शेक्सपियर ने जवाब दिया, 'मुझे देखने के लिए सुन्दरता नहीं, बातचीत करने के लिए एक दिमाग की जरूरत थी।'"

"मतलब, अगर एक दिमाग आपको मिले तो आप शादी कर लेंगे?" उसके चुप होने पर मैंने फिर एक सवाल किया।

"मैं शेक्सपियर की बात कह रहा था।"

दूसरों के माध्यम से अपनी बात कहने की सलीमत की आदत [?] दिनों तक मैं नहीं समझ पाई। उन दिनों इस-उस-सी बात पर भी चि[ढ़] जाती थी। उसे भी मुझे चिढ़ाने में खास मज़ा आता था। [?] अब…

सुमित्रि ढंग से जब अपनी बात उसके सामने रखती हूँ तो [?] मुझे देर तक देखता रहता है। न जाने कितने भाव उसके चेहरे पर दिखते हैं, न जाने कितने खयाल उसके मन में उभरकर आँखों में तैर[ते] हैं कि उन्हें शब्दों में बाँधना उसके लिए संभव नहीं होता। वह [?] देखता रहता है, मेरी आँखें चंचलता से उसके गिर्द चक्कर काटती हैं।

'पतझड़' मेरी और अमित की कहानी थी, जो उसने लिखकर दी।

थी। उन्हीं लाइनों पर मैंने लिखना शुरू किया, जो सही मायनों में मेरा पहला और पाठकों की दृष्टि में मेरा दूसरा उपन्यास बना। कहानी मेरी और देव की थी। दोनों की नायिका मैं थी। फिर भी चरित्र बदलने के लिए बहुत-सी बातें काटनी-जोड़नी पड़ीं। बहरहाल एक चीज़ तैयार होती गई और अंत में जब उपन्यास पूरा हो गया तो नाम की समस्या उठी।

"क्या नाम रखूं इसका ?" मैंने सत्यजित से पूछा।

"वाह, लेखिका आप हैं, नाम मैं बताऊं ?"

"आप विचारक हैं, आपका दिया हुआ नाम बेहतर होगा।"

"एक नया नाम तो आपने अभी दे दिया मुझे। यह विचारक क्या चीज़ होती है ?"

"विचारक यानी विचार करने वाला।"

"मैं क्या विचार करता हूं ?"

"मैं भला कैसे बता सकती हूं ! इतनी-इतनी देर खामोश रहकर आप कुछ तो सोचते-विचारते रहते ही होंगे।"

"मैं जब चुप रहता हूं तो मेरा दिमाग बिलकुल खाली रहता है।"

"दिमाग भी कभी खाली रहता है ?"

"मेरा रहता है।"

सत्यजित की बातों का कभी-कभी मेरे पास कोई जवाब नहीं होता था। मैं अकसर चुप रह जाती थी। उसके साथ बैठ-बैठकर चुप रहने की आदत कुछ ज्यादा ही पड़ती जा रही थी। नाम की समस्या समस्या ही बनी रही।

एक रात बड़ी देर तक नाम के पीछे मगज़पच्ची करती रही। कुछ भी नहीं सूझा तो मैंने सोचना बंद कर दिया।

"जब किसी बात को सोचते-सोचते दिमाग थक जाए और कोई हल न निकले तो फौरन सोचना बंद कर देना चाहिए।" एक दिन सत्यजित ने कहा था।

"लेकिन सोचना बंद कर देना क्या अपने हाथ में है ?"

"क्यों नहीं ! जब आप सोचने से इनकार कर देंगी तो बात क्या ज़बर-

दस्ती आएगी आपके दिमाग में ?"

"होता तो कुछ ऐसा ही है। जितना ज्यादा आप किसी बात को मन से निकालना चाहते हैं, वह उतनी ही ज्यादा दिलोदिमाग पर छाती जाती है।"

"उसपर सही ढंग से काबू पाइए, कभी नहीं छाएगी।"

"सही ढंग से काबू पाने का क्या तरीका होता है ?"

"आप खुद सोचिए। दर्शनशास्त्र में एम० ए० किया है आपने।"

"पी-एच० डी० करके तो आप बैठे हैं।"

"यह डिग्री भी आप मुझे दे देंगी ? मेरे लिए तो आपकी दी हुई डिग्रियां सभालना मुश्किल हो जाएगा।"

सत्यजित उन दिनों जवाब बड़ी तेजी से देने लगा था। कहता, मैंने उसे बोलना सिखा दिया है; लेकिन वह तो कहने की बात थी। उसकी बात से मुझे कोई गलतफहमी नहीं थी और यह बात वह भी जानता था।

मैंने उपन्यास का नाम रखा—'शिकन'।

सत्यजित को इस शब्द का मतलब समझाने में मुझे पूरे दो घंटे लगे थे। शब्द से अच्छी तरह इत्तफाक करने के बाद नाम उसने पसंद किया।

'शिकन' भी चक्रवात के प्रकाशक ने दूसरे सेट के लिए ले लिया :

"मैं तो चाहता हूं मिस सरकार, कि मुझे कुछ लेखक ऐसे मिलें, जिन-पर मैं भरोसा कर सकूं, जिन्हें मैं बनाऊं और जो मुझे बनाएं।" 'नवीन पॉकेट बुक्स' के प्रोप्राइटर मि० अग्रवाल ने अनुबंध के समय कहा था।

मुझे क्या एतराज हो सकता था ! तब तक मुझे पता चल गया था कि जिन शर्तों पर मेरी किताब छपी थी, उन शर्तों पर नामचुदा लेखक भी लिख रहे थे। खासतौर पर पॉकेट बुक्स पांच प्रतिशत रॉयल्टी। दस हजार का एडीशन। पहले एडीशन की आधी रॉयल्टी एडवांस।

चक्रवात छपने के साल-भर बाद एक हजार का एक और चेक आ गया। लिखकर भी इतना पैसा कमाया जा सकता है ? मन में जोश आया। कलम तेज हो गई। मैंने तीसरा उपन्यास शुरू कर दिया।

उपन्यास के लिए अपनी ही जिंदगी चुनकर मैंने दूसरी गः

लेकिन फिर ज़िंदगी में मेरे पास और था भी क्या !

मेरी ज़िंदगी में तीसरा नंबर सत्यजित का है; लेकिन सत्यजित को लेकर कुछ लिखने की हिम्मत मुझमें है, यह सोचने में न जाने कितने दिन, हफ्ते लग गए।

इस उपन्यास के बारे में मैंने सत्यजित को कुछ नहीं बताया। मुझे खुद पर भरोसा नहीं था कि ईमानदारी से मैं उसका चरित्र उतार सकूंगी, लेकिन 'शिकन' के बाद का आत्मविश्वास मुझे धकेलता रहा और जैसे-तैसे मैं आगे बढ़ती रही।

बीच में कई बार हिम्मत हारकर बैठ गई। कई-कई पेज लिखकर फाड़ डाले। अध्याय का अध्याय फिर से लिखा, फिर कई-कई दिन तक कुछ न लिखकर खुद को बेचैन रखा। पहली बार एहसास हुआ, लिखना कितना मुश्किल है। खुद पर शक होने लगा, 'शिकन' क्या मैंने ही लिखा था ?

उन दिनों मेरी परेशानी पर सत्यजित ने कई बार गौर किया, लेकिन मैं बात को तरह देती रही। फिर एक महीने की छुट्टी लेकर मैं इलाहाबाद मां के पास चली गई। जब लौटी तो उपन्यास पूरा हो चुका था। नाम क्या रखा, यह बताना ज़रूरी नहीं। सुरेंद्र ने पाण्डुलिपि टाइप करके मुझे वापस की तो फौरन मैंने उसे अपने प्रकाशक के पास भेज दिया।

महीने-भर बाद मुझे मि० अग्रवाल का एक पत्र मिला, डिनर का निमंत्रण। और जब मैं उनसे मिली तो साफ शब्दों में उन्होंने कह दिया, उपन्यास में कोई जान नहीं। 'चक्रवात' और 'शिकन' के लेखक से यह उम्मीद नहीं की जाती।

अग्रवाल साहब की राय का मैंने कोई विरोध नहीं किया। मेरी अपनी राय भी कुछ ऐसी ही थी।

"इस उपन्यास को लिखते समय इतनी अड़चनें आईं कि मन रम नहीं पाया।" मैंने सफाई दी, साथ ही आश्वासन भी, "भूल जाइए इसे। अगले दो-तीन महीने के अंदर ही अंदर कुछ और दूंगी।"

अग्रवाल साहब बोले नहीं कुछ, लेकिन मेरे चेहरे पर टिकी उनकी

आंखों में ऐसा कुछ था, जो मुझसे कह रहा था कि अगर मैं उनके लिए लिखना भी बंद कर दूं तो कोई हर्ज नहीं, या कि अब उन्हें मुझसे कोई किताब नहीं चाहिए।

फिर भी पूरा उपन्यास फिर से लिखने की बात मैं पहले से ही सोच रही थी। अग्रवाल साहब की राय ने यह बात और पक्की कर दी। पाण्डुलिपि लेकर मैं वापस आ गई।

दूसरे दिन इतवार था। पूरे दिन बैठकर मैंने अपना टाइम टेबल बनाया और सोमवार से उसपर अमल करना शुरू कर दिया।

सुबह पांच बजे सोकर उठना। एक घंटे में रोज़नामचा खत्म करके छ: बजे से नौ बजे तक लिखना, फिर जमकर नाश्ता करना, जिससे लंच की गुंजाइश न रहे। ठीक दस बजे ऑफिस पहुंचना और पांच बजे तक वहां का काम देखना। साढ़े पांच घर लौटकर फिर छ: बजे से लिखने बैठ जाना और रात दस, साढ़े दस तक लिखते रहना। मिलना-जुलना, सभा-सोसायटी अब बंद कर दिया। हफ्ते का आखिरी दिन शनिवार सत्यजित से मिलने का दिन था। उस दिन शाम का क्रम टूट जाता, रात को लौटने में कुछ देर होती।

हफ्ते के दूसरे दिनों में सत्यजित अगर टेलिफोन करता तो हालचाल पता चल जाता। मैं टेलिफोन करने से खुद को रोकती, क्योंकि मेरे टेलिफोन का मतलब होता, मिलने का इसरार, और सत्यजित मेरी बात टाल नहीं सकता था। मैंने उससे साफ-साफ कह दिया था :

"अगर बीच में कभी मैं टेलिफोन करूं और मिलने की बात कहूं तो प्लीज़, आप मना कर दीजिएगा।"

"क्यों, आप खुद को मना नहीं कर सकतीं ?"

"शायद आपसे मिलने की बात मैं हमेशा कहती रहूंगी, खुद को मना करने की बात तो दूर की है।"

"मुझे आप ज़रूरत से ज्यादा अहमियत दे रही हैं। मैं तो एक बेकार-सा आदमी हूं।"

"मेरे लिए बेहतर है, अगर आप खुद को यही समझते रहें।"

"ताकि आप हमेशा मुझे डोमिनेट करती रहें ?" वह मुस्कराया।

"यह तो आप भी जानते हैं, कौन किसको डोमिनेट करता है।"
"मैं ऐसी कोई वात नहीं जानता।"
"चलेगा। आपका न जानना भी मेरे ही पक्ष में है।"
वहरहाल खुद को मैं टेलिफोन करने से रोकती रही, सत्यजित का टेलीफोन कभी गाहेवगाहे आता रहा। हालचाल का पता एक-दूसरे को चलता रहा।

लेकिन नतीजा क्या निकला? शुरू के तीन दिन के लिखे हुए तीस पेज चौथे दिन फाड़कर फेंक दिए। घंटों मगज़ मारती रही। फिर से लिखना शुरू करने की कोशिश में न जाने कितने पन्ने वरवाद किए। फिर कागज़-कलम एक ओर रखकर लेट गई। खाली आंखों से छत को काफी देर घूरने के वाद उठी, तैयार होकर मार्केट आई।

एक पब्लिक वूथ से मैंने सत्यजित का नंवर मिलाया :
"आपसे मिलना चाहती हूं आज, अभी।"
"खैरियत तो है?"
"जी हां।"
"कोई खास वात?"
"नहीं।"
"ऑफिस से छुट्टी ले रखी है?"
"नहीं।"
"फिर?"
"ले लूंगी।"
"मिलना वहुत ज़रूरी है?"
"कितनी वार कहना होगा?" मेरी आवाज़ कुछ तेज़ हो गई थी।
"तो ठीक है। कितने वजे, कहां मिलेंगी आप?"
"आप वताइए?"
"यह मैं आपपर छोड़ता हूं।"
"उसी जगह, आधे घंटे के अंदर।"
कनॉट प्लेस का एक रेस्तरां, जहां हम मिला करते थे। तवीयत खराव [की] सूचना वॉस को टेलिफोन पर देते हुए मैं वूथ से वाहर आई और

टैक्सी स्टैंड की ओर चल पड़ी। निर्धारित जगह पर पहुंचकर मैंने एक ब्लैक कॉफी का ऑर्डर दिया और सत्यजित का इंतज़ार करने लगी।

सत्यजित समय का पाबंद है। पांच-दस मिनट से ज्यादा मुझे उसका इंतज़ार कभी नहीं करना पड़ा।

"सुनाइए, क्या खबर है?" बगल में बैठते हुए उसने पूछा। यह उसका खास सवाल है, जो वह सबसे पहले हर बार पूछता है।

"ठीक।" मेरा भी खास जवाब बन गया है।

"क्या बात है?"

"कुछ नहीं।"

"कुछ तो? आपने कहा था, मिलना जरूरी है!"

"अब भी कह रही हूं।"

"तो कुछ तो बात होगी!"

"आपसे मिलना अपने में जरूरी बात नहीं?"

"हम मिलते तो हैं हर शनिवार को।"

"और बीच में कभी मिलने का मन हो?"

"बैठे तो हैं साथ।"

"फिर किसी जरूरी बात का होना न होना क्यों पूछा जाए?"

"सॉरी, आप तो बुरा मान जाती हैं।"

"जब आप इस तरह से पूछेंगे तो बुरा मानने के अलावा कोई क्या करेगा?"

"अच्छा छोड़िए; बताइए, कितना लिखा आज?"

सत्यजित ने समझा था, मैंने एक नया उपन्यास लिखना शुरू किया है। तीसरे उपन्यास की पाण्डुलिपि वापस आने की बात मैंने उसे नहीं बताई थी।

"कुछ भी नहीं।"

"सुबह क्या किया?"

"कल तक के लिखे हुए तीस पेज फाड़कर फेंक दिए।"

"बहुत गुस्सा आ गया था?"

"हां।"

"तो किसीपर नाराज़ हो लेतीं। लिखे हुए पन्ने क्यों फाड़ दिए ?"

"इसलिए कि उनपर मेरा अधिकार था।"

सत्यजित चुप हो गया। हमेशा की गंभीरता उसके चेहरे पर उभर आई।

वेटर को कॉफी का ऑर्डर देकर हम दोनों चुप बैठे रहे, जैसे आपस में कोई जान-पहचान न हो।

"एक बात पूछूं ?" काफी देर बाद मैंने पहल की।

"पूछिए।"

"आप इतने चुप क्यों रहते हैं ?"

"अभी पिछले दिनों तो आप कह रही थीं, मैं खासा बोलने लगा हूं ?"

"और मैं ही यह सवाल भी कर रही हूं।"

वह चुपचाप कॉफी पीता रहा। फिर उसने भरपूर आंखों से मुझे देखा।

"सवाल जितने कम किए जाएंगे, जवाब उतने ही सही मिलेंगे।"

"आपको यह डर रहता है कि लोग आपसे झूठ बोलेंगे।"

"इसमें डर की कोई बात नहीं; लेकिन ऐसी स्थिति दूसरे के सामने रखी ही क्यों जाए ?"

"इसका मतलब, आपसे मैंने जितने भी सवाल किए हैं, उनमें से बहुतों का जवाब मुझे गलत मिला है ?"

"अगर आप समझती हैं कि आपके हर सवाल का जवाब मैंने दिया है।"

"तो यह राज़ है आपके सीधे जवाब न देने का ?"

बातें फिर खत्म हो गईं, लेकिन मुझको लगा, सत्यजित को मैंने कुरेद दिया है। बातचीत की पहल वही करेगा। मैं सोफे से सर टिकाकर आराम से बैठ गई और उसके कुछ कहने का इन्तज़ार करने लगी।

"अब तक आपने कितने लोगों को तबाह किया है ?" मुझे ज्यादा इन्तज़ार नहीं करना पड़ा, लेकिन सत्यजित के सवाल ने मुझे चौंका दिया।

"मतलब ?"

"इसमें कोई छिपा हुआ मतलब नहीं। सवाल बिलकुल-सीधा है।"

"एक से ज्यादा।" मैंने सीधे सवाल का सीधा जवाब दिया, "अगर आपके तबाह करने का मतलब मैंने ठीक समझा है तो।"

"आपने ठीक समझा है। अमित को तो मैं जानता हूं।"

"दूसरे को अमित जानता था।" मैंने कहा: "लेकिन तबाह करने का इस्तेमाल मेरे खयाल से आपने ठीक नहीं किया। दोनों मेरे निकट रह चुके है, लेकिन उन्हें तबाह करने की कोशिश मैंने कभी नहीं की···। यूं समझ लीजिए कि देव मेरी जिन्दगी मे रहा होता तो अमित न आता और अमित होता तो शायद आपको यह सवाल पूछने की जरूरत न पडती।"

"जानता हूं। बात को सही ढंग से समझकर जवाब देने की गजब की जेहनियत है आपमे।"

मैं चुप रही।

"आपके साथ इतनी-इतनी देर बैठा रहता हूं, बोलता भी हूं, वरना किसी भी लड़की से मैं दस मिनट से ज्यादा बात नहीं कर सकता।"

"जर्रानवाजी का शुक्रिया।"

"लेकिन एक बात मेरी समझ मे नहीं आती। कभी-कभी आप इतनी तल्ख क्यो हो जाती हैं?"

"इसमें न समझ पाने जैसी कोई बात नहीं। जो चीज आपको जिन्दगी से मिलेगी, वही तो आप दूसरों को देंगे।"

"लेकिन जिन्दगी से मिली हुई तल्खी आप दूसरों को कहां देती है! आप तो अपने पर ही तल्ख हो जाती है।"

"जिसपर अपना अधिकार हो, उसीको तो भला-बुरा कहा जाता है।"

"अच्छा बताइए, फिर लिखना कब शुरू करेंगी?"

"जब मूड बनेगा।"

"आपका मूड बनाने के लिए क्या करना होगा?"

मन हुआ पूछूं, मेरा मूड बनाने के लिए कर पाओगे कुछ, लेकिन बोली:

"आपको कुछ नहीं करना होगा। कल से फिर लिखूंगी।"

सत्यजित खुश हो गया।

"चलिए, आपको आज एक नई जगह दिखाता हूं।" वह बोला।

"कौन-सी ?"

"यह तो वहां चलकर ही पता चलेगा।"

हम लोग वहां से उठे। कनॉट प्लेस के इनर सर्किल का एक चक्कर लगाया और फिर पचकुइयां रोड पर मुड़ गए। पहले चौराहे पर पहुंचकर सत्यजित खड़ा हो गया।

"चाय पीना पसंद करेंगी ?" उसने पूछा।

आसपास एक-दो ढाबों के अलावा कोई जगह नहीं थी। कॉफी पीकर हम आ रहे थे, लेकिन सत्यजित की बात टालना नामुमकिन लगा।

दोनों कोने के एक गंदे-से ढाबे में बैठ गए।

"किसी ज़माने में दो साल तक लगातार मैंने इस जगह चाय पी है।" एक कुर्सीनुमा स्टूल पर इतमीनान से बैठते हुए उसने कहा।

पंजाबी ढंग से बनी हुई, बेहद चीनी, इलायची-लौंग के बावजूद चाय मुझे अच्छी लगी।

चाय पीकर हम बाहर आए। चौराहे से सत्यजित दाहिनी ओर मुड़ा और कुछ दूर अंदर जाकर एक बड़े-से फाटक पर खड़ा हो गया।

रामकृष्ण मिशन का बड़ा-सा बोर्ड सामने लगा हुआ था।

"दो साल तक मुतवातिर मैं सुबह से शाम तक यहां की लाइब्रेरी में बैठा हूं। बीच-बीच में उठकर उस ढाबे में चाय पीने चला जाता था। अंदर चलना पसंद करेंगी ?"

पूछना चाहा : 'आज तक तुम्हारी कौन-सी बात नापसंद की है ?' लेकिन : "चलिए।" कहते हुए मेरे कदम अपने-आप फाटक से अंदर की ओर बढ़ गए।

दाहिनी ओर लाइब्रेरी के लिए न मुड़कर वह सीधे चलता गया। कुछ सीढ़ियां चढ़कर एक विशाल हॉल था, जिसमें रामकृष्ण परमहंस की मूर्ति विराजमान थी।

जूते सीढ़ियों के नीचे उतार दिए गए। सत्यजित के साथ बड़ी देर तक मैं रामकृष्ण परमहंस की मूर्ति के सामने खड़ी रही।

सत्यजित शायद परमहंस के ध्यान मे डूब गया। मैं सत्यजित के ध्यान में डूबी रही।

वहां से चले तो मन भारी था।

"क्या सोचने लगी आप ?" मेरी ओर देखे बगैर उसने पूछा।

"कुछ नहीं।" मैंने भी उसकी ओर नही देखा।

"कुछ तो।"

"नही, कुछ भी नही।"

"कैसा लगा ?"

"अच्छा या बुरा कहकर इसका जवाब नही दिया जा सकता।"

"जैसे दिया जा सकता है, वैसे दीजिए।"

"वैसे भी मुश्किल है।"

"मुश्किल है, तो कोशिश कीजिए।"

"क्यों ?"

"इसलिए कि कोशिश करना आदमी का फर्ज है।"

"इसलिए नही कि आपको अपने एक सवाल का जवाब चाहिए ?"

"इसलिए भी।"

"मान लीजिए, जवाब मैं न देना चाहूं ?"

"आपकी मर्जी।"

"आपसे कोई मतलब नही ?"

"मतलब क्या हो सकता है ! अगर आप जवाब न देना चाहें तो मैं क्या कर सकता हूं !"

"कोशिश।"

धीरे-धीरे चलते हुए हम कनॉट प्लेस वापस आ गए। कही बैठने का मन हुआ, लेकिन मैंने सत्यजित से कहा नही। इनर सर्किल का एक चक्कर फिर लगाया। शाम होने में ज्यादा देर नही थी।

"अगर किसी बैचलर के घर जाने में आपको कोई एतराज न हो तो निमन्त्रण आपके सामने है।" सत्यजित चलते-चलते सहसा रुक गया।

"एतराज की क्या बात है ! निमन्त्रण के लिए शुक्रिया।"

टैक्सी लेकर हम उसके घर पहुंचे। एक बार और मैं वहां जा चुकी

थी, अमित की अमानत के सिलसिले में, तब सत्यजित घर पर नहीं था।

उस शाम बड़ी देर तक मैं उसके साथ बैठी रही। सत्यजित ने अपनी विदेश-यात्रा के ढेरों संस्मरण सुनाए, न जाने कितने चित्र दिखाए। साइंस और टेक्नॉलोजी की किताबों से अलमारियां भरी पड़ी थीं।

"मुझे अफसोस है कि इनमें से कुछ भी मैं आपकी नज़र नहीं कर सकता। ये सब मेरे जैसे रोबो के लिए ठीक हैं। आप तो अच्छी-भली जीती-जागती इंसान हैं।"

"इन किताबों को पढ़ने वाले सारे लोग रोबो होते हैं?"

"सारे लोगों का तो पता नहीं, खुद को तो मैं रोबो ही मानता हूं।"

"अच्छा है। रोबो बन जाने से बहुत-सी ज़िम्मेदारियों से छुट्टी मिल जाती है।"

"बताइए, रामकृष्ण परमहंस से आपने क्या मांगा?" उसने एकदम से बातचीत का रुख मोड़ दिया।

"किस रामकृष्ण परमहंस से?"

"जिनके मंदिर में हम गए थे।"

"मैंने तो वहां कोई परमहंस नहीं देखा।"

"इतनी देर आप क्या देखती रहीं?"

"आपके मतलब की कोई चीज़ नहीं थी।"

"ज़ाहिर है, जब आप देख रही थीं तो हमारे मतलब की कैसे हो सकती है!" फिर थोड़ी बाद: "दो-तीन जगहें और हैं यहां, जहां मैंने ज़्यादा सेज़्यादा वक्त गुज़ारा है। किसी दिन दिखाऊंगा आपको।"

"कितनी जगहें, कहां-कहां दिखाते फिरेंगे मुझे?"

"देखना पसंद करेंगी आप?"

"कहकर देखिए।"

सत्यजित गंभीर हो गया। उसने घड़ी देखी, नौ बजकर बीस मिनट हो चुके थे।

"इजाज़त हो तो चलना चाहूंगी।" मैं अचानक उठ खड़ी हुई।

"मैं भी चलता हूं। अभी गुडनाइट भी तो विश करना होगा।"

वह मुझे घर तक छोड़ गया। मैं उसकी ओर लगातार देखती रही

उसका हाथ मेरा गाल थपथपाने के लिए आगे नहीं बढा। गुडनाइट कहकर वह मुड़ा तो चलता चला गया। मैं उसे जाते हुए देखती रही।

मेरे लिए वह एक पहेली बनता जा रहा था। उसने कहा था, धर्म पर उसे विश्वास नही। रामकृष्ण परमहंस के सामने ध्यानमग्न होकर वह क्या सोचता रहा, मुझे नहीं मालूम। मेरे मन में सिर्फ सत्यजित था।

विवेकानंद का अशात मन रामकृष्ण परमहंस के पास शांति पा सका। मैं सोचती रही, मेरे अशात मन को शांति देने में सत्यजित कहां तक रुचि ले सकेगा?

उस रात नींद अच्छी आई।

दूसरे दिन उठकर उपन्यास फिर से शुरू करना था। उपन्यास, जिसमें सत्यजित था, मैं थी, हमारे रास्ते में आने वाली पहेलियां थी, जिन्हें अपने-अपने ढंग से बूझने की कोशिश में शायद न चाहते हुए भी हम नज़दीक आते जा रहे थे।

४

दूसरे दिन सारे आकाश में बादल छाए रहे। लगता रहा, बारिश अगर शुरू हुई तो घंटों बंद होने का नाम नही लेगी। सुबह तीन घंटे की लगातार कोशिश के बाद भी कोई बात बन नही पाई थी। कई पेज लिखने और फाड़ने के बाद मैंने शाम को नये सिरे से बैठने की बात सोच ली थी और ऑफिस चली आई थी। सत्यजित का कोई टेलीफोन आने का सवाल नही उठता था और एक दिन पहले इतने घंटे साथ गुज़ारने के बाद फिर दूसरे दिन उसे टेलिफोन करने की बात मुझे भी नही जची।

"आप ज़िंदगी की तेज रफ्तार की कायल है और मैं ठहरा रेंग-रेंगकर चलने वाला। आपसे मेरा क्या मुकाबला?" एक दिन उसने कहा था।

"जीत तो रेंग-रेंगकर चलने वालों की ही होती है।"

"रफ्तार वाले ज़िंदादिल होते हैं।"

"रेंगने वाले शांत-गंभीर होते हैं।"

"रफ्तार वाले मंज़िल तक जल्दी पहुंचते हैं।"

"उन्हें रिस्क लेना पड़ता है। भटक भी सकते हैं।"

"भटकने से अनुभव बढ़ता है।"

"कहते हैं, काफी अनुभव के बाद ही आदमी शांत-गंभीर होता है।" मैंने मुस्कराकर उसकी ओर देखा था।

"कोई ज़रूरी नहीं।"

"फिर गंभीरता कहां से आती है?"

"पता नहीं।"

"आप यह तो नहीं कहना चाहते कि रफ्तार के डर से आदमी गंभीर हो जाता है?"

सत्यजित की मुस्कराहट गायब हो गई। वह गंभीर होकर कहीं खो गया था। बातचीत का सिलसिला वहीं रुक गया। दो या तीन कॉफी पीकर हम वहां से उठ गए थे। बड़ी देर तक इनर सर्किल का चक्कर लगाते रहे। घर लौटते-लौटते भी हम फिर पहले की तरह सहज नहीं हो पाए थे। मेरी समझ में नहीं आया, मैंने ऐसी क्या बात कह दी कि सत्यजित इतना गंभीर हो गया।

मन मारकर दिन-भर ऑफिस के काम में लगी रही। शाम को भी कुछ देर तक बैठना पड़ा और जब घर चलने के लिए उठी तो पता चला, बाहर बेशुमार बारिश हो रही है। बॉस पहले ही जा चुके थे, नहीं तो उन्हींसे घर तक छोड़ आने की बात कही जा सकती थी। आसपास के तीनों टैक्सी स्टैण्ड खाली थे। मजबूर होकर फिर बैठना पड़ा।

बड़ा मन हुआ, सत्यजित को फोन किया जाए; लेकिन उस समय उसका घर पर होना क्या संभव था? मन को कई बार रोकने के बाद भी आखिर नंबर मिला ही लिया। लाइन पर नौकर की आवाज़ सुनाई पड़ी तो बिना कुछ कहे मैंने रिसीवर रख दिया।

उस दिन मैंने बड़ी शिद्दत से महसूस किया कि सत्यजित मेरे इतने करीब आ गया है कि उससे खुद को अलग करना अपने को झुठलाना था

और उसके करीब मैं कितनी देर रह सकती थी !

हर बात पर बेरुखी, एक परायापन, उसके चारों ओर खिची हुई एक लक्ष्मण-रेखा, जिसे पार करना आसान नही था और एक बार हिम्मत की भी जाए तो सत्यजित भला कब मानने वाला था !

सामने बैठकर बातें करता तो लगता, इससे बढ़कर अपना दुनिया में कोई नहीं। आंख से ओझल होता तो फिर वही बेरुखी, वही परायापन, उसके चारों ओर खिची हुई वही लक्ष्मण-रेखा।

कहता : "दिमाग का काम है भूलना। हर दिन की बात मैं रात तक भूल जाता हूं। हर सुबह के साथ मेरा नया दिन शुरू होता है।"

"फिर तो गुजरी हुई बातों की कोई अहमियत आपके लिए नही है।"

"उनकी अहमियत भला क्या हो सकती है ?"

"सुखी रहेंगे।"

"आपकी शुभकामनाएं हैं तो सुखी रहना ही पड़ेगा।"

मन न जाने कैसा होने लगा। कमरे से निकलकर बाहर आई। इधर-उधर देखा। पानी अपनी रफ्तार पर बरसता जा रहा था। बिना कुछ सोचे-समझे मैं नीचे आ गई। ग्रीन पार्क के दो सज्जनो ने वहां मुश्किल से एक टैक्सी पकड़ी। मुझे जोरबाग छोड़ते जाने का प्रस्ताव उन्होंने रखा तो मैंने मान लिया।

घर पहुंची तो सीढ़ियों से कमरे तक पहुचने मे खासी भीग गई।

आया शायद रसोई मे थी। मेरे आने की आहट उसे नही मिली। कमरे का बदला हुआ हुलिया देखकर मैं ठिठक गई।

सोफे की पीठ पर बेतरतीबी से फेंकी गई पैंट, कुर्सी पर पड़ी कमीज, कोने में उलटे-सीधे जूते और उनपर पड़े हुए मोजे। सोफे के सामने की मेज पर रखी हुई अटैची और सबसे ताज्जुब की बात, मेरे पलंग पर सफेद चादर तानकर सोई हुई एक शख्सियत। मेरे यहा आकर इतने अधिकार से रहने वालों मे सिर्फ एक मां थी, लेकिन पैंट और कमीज ?

अचानक मेरा दिल धड़कने लगा। क्या मुझे सत्यजित का खयाल आया ?

चादर हटाकर शख्सियत का जायज़ा लेने की हिम्मत नहीं पड़ी। आया से जाकर पूछना ही बेहतर था। मैं वैसे ही कमरे से रसोई की ओर मुड़ने लगी।

"हलो, रीना स्वीट!" आवाज़ और बुलाने का अंदाज़ दोनों ही परिचित थे।

"तुम? कब आए?" मैं घूमकर खड़ी हो गई। समझ में नहीं आया, मुझे खुश या नाराज़ होना चाहिए।

"तीन बजे। ढूंढ़-ढूंढ़कर पागल हो गया।"

"लौटे कब?"

"करीब तीन महीने हो गए।"

"खबर क्यों नहीं दी?"

"खुद आकर तुम्हें चौंका देना चाहता था।"

"आया ने तुम्हें पहचान लिया?"

"नहीं तो घर में घुसने देती?"

"कितने बदल गए हो!"

"वाकई?" देव की शरारती आंखें मेरे चेहरे पर टिकी रहीं। उसकी आंखों में एक झिलमिलाहट थी, उसकी खुशी की गवाह; लेकिन मेरी आंखें भी क्या उस खुशी का साझीदार बनने के लिए तैयार थीं? उसकी आंखों की ओर मैं ज़्यादा देर नहीं देख पाई।

गीले कपड़े बदलकर जब मैं इतमीनान से बैठी तो देव भागकर किचन से चाय की ट्रे उठा लाया। एक प्याला गरम चाय खुद बनाकर उसने मेरी ओर बढ़ाई।

"और सुनाओ, ज़िंदगी के ये चार साल कैसे गुज़रे?"

"तुम अपनी कहो?"

"अपनी तो सुनाऊंगा ही। पहले तुम्हारी सुनना चाहता हूं। सुना बहुत बड़ी लेखिका बन गई हो?"

"लेखिका बनी हूं या नहीं, लिखने की कोशिश ज़रूर कर रही हूं"

"बातें करना भी सीख गई हो।"

"बातें नहीं देव, मैं तुम्हें असलियत बता रही हूं।"

"वह तो मैं देख रहा हूं। अच्छा वताओ, 'चक्रवात' का तरुण कौन है, प्रिया को तो पहचान गया हूं ?"

"कौन है प्रिया ?"

"कोई भी हो, मैं उसे जानता हूं।"

"प्रिया को जिंदगी मैंने दी—मन मे एक टीस हुई। अमित के उभरते हुए चेहरे को मैंने परे हटा दिया—जानने तुम लगे ?"

"बहुत दिनों से।"

"बड़ी गहराई से बोल रहे हो !"

"यह निधि मुझे उसीने दी है। समझने मे थोडी देर जरूर लगी। सुबह का भूला शाम को घर भी तो आ सकता है !"

उसका चेहरा गंभीर होने लगा था। बात को अधिक तूल मैं नही दे पाई। आंखों मे विस्मय बनाए रखकर मैंने उसकी ओर देखा।

"तुम्हारा मतलब प्रिया मैं हू ?"

"इसमें मतलब की कहां गुंजाइश है ! हां, तो तरुण साहब कौन है ?" उसकी चुहल वापस आने लगी।

"कोई जरूरी है, तरुण साहब कोई हों ही ?"

"इतना तो तुम भी मानती हो रीना, न बताना चाहो तो बात दूसरी है।" देव बुरा मानने लगा।

"मैंने यह तो नही कहा, बताऊंगी नही; लेकिन यह क्या कि आते ही पिस्तौल लेकर खड़े हो गए, जैसे तुम्हारी गैरमौजूदगी मे किसीने तुम्हारे घर मे डाका डाला हो। जहा तक तरुण का सवाल है, उससे जैलस होने की गुंजाइश तुम्हारे लिए कही नही।" बुरा मानने की अब मेरी बारी थी।

"मैं जैलस हूं क्या ?" उसने समझौते का हाथ बढ़ाया।

"यह सवाल तुम खुद से करो।"

देव चुप हो गया।

"और सुनाओ, घर मे सब लोग ठीक हैं, मम्मी-डैडी, भाई-बहन ?" मैंने विषय बदलने की गरज से कहा।

"बिलकुल। आते समय 'सुदर्शन विला' भी गया था। मा से मुलाकात

नहीं हुई।"

"अब क्या इरादे हैं ?"

"शादी करके घर बसाना चाहता हूं।"

"चार साल अमरीका में रहने के बाद भी ?"

"क्यों ? अमरीका से मेरे घर का क्या संबंध ?"

"मैंने सोचा, शायद बदल गए हो। लड़की देख ली ?"

"हां, और बातचीत भी करीब-करीब पक्की हो गई है।"

"करीब-करीब पक्की होने से क्या मतलब ?"

"मतलब घर वाले राजी हैं। एक बार लड़की से मिलना होगा।"

"कहां की है ?"

"है तो इलाहाबाद की ही। आजकल दिल्ली में कुछ कर रही है।"

"तो उससे मिलने आए हो ?"

"नहीं, आया तो एक इंटरव्यू में हूं। एक प्राइवेट फर्म में बिजनेस मैनेजर की जगह है; लेकिन लड़की से बातचीत भी इसी ट्रिप में कर लूंगा।"

"कहां रहती है ? क्या कर रही है ?"

"एक एडवरटाइजिंग एजेंसी में कॉपीराइटर है और यहीं जोरबाग में रहती है।" देव की आंखें मेरे चेहरे पर टिक गईं। मैं भीतर से सिहर उठी।

देव जिस तरह अमरीका चला गया था और जाने के बाद भी लगातार खामोश रहा, उसके बाद इस तरह की बातचीत की गुंजाइश मेरे हिसाब से नहीं थी; लेकिन मैंने पाया, उसकी बातचीत या व्यवहार में कोई बनावट नहीं है। उसकी चंचल आंखें पहले की अपेक्षा गंभीर हो गई थीं। उसकी हर बात पहले की तरह अब मजाक में नहीं ली जा सकती थी।

"क्यों ? नाम, पता और कुछ पूछना है ?" मुझे काफी देर तक खामोश पाकर उसीने सवाल किया।

"क्या बेकार का सवाल पूछकर अपना वक्त जाया करूं ?" मैंने कहा : "तुम सुनाओ। चार साल में क्या-क्या मजे किए ?"

वेन उसी तरह मेरी ओर देखता रहा, फिर बोला :

“जिन्दगी की बातें भूल जाओगी तो [illegible] तुम अपनी जिन्दगी [illegible] [illegible] हैं। अगर ऐसे [illegible] में कोई कमी रह गई हो या भूल से कोई गलती हुई हो तो माफ कर दो। पिछली बातों का हवाला दिए बगैर क्या नई बातें हम नहीं सोच सकते ?”

वेन न जाने क्या क्या कहता रहा। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

[illegible]

“प्रेम में [illegible] [illegible] [illegible] कभी नहीं होता।” [illegible]

[illegible] था।

फिर अनिल…

मैं एक [illegible] था, [illegible] [illegible] था, क्योंकि उसमें [illegible] में अनिल था। अनिल के [illegible] [illegible] [illegible] नहीं [illegible] था। अनिल [illegible] नहीं था, [illegible] [illegible] [illegible]। मैं [illegible] [illegible] हूँ, क्योंकि उसमें [illegible] में अनिल नहीं है। [illegible] [illegible] [illegible] अनिल [illegible] [illegible] नहीं आएगा।

और [illegible] ?

[illegible] [illegible] और [illegible] होता। [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] [illegible] और [illegible] की [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] होता।

[illegible] एक होना [illegible] नहीं। [illegible] अलग-अलग [illegible] की [illegible] [illegible] [illegible] है।” [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] की [illegible] [illegible] [illegible] है, [illegible] अलग [illegible] की [illegible] [illegible] [illegible] है। [illegible] [illegible] की कोई और [illegible]…

[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] नहीं थी, [illegible] [illegible] था।

“[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] हूँ, [illegible] एक [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] नहीं [illegible] और [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] की [illegible] है।”

"अगर ऐसा कोई मिल गया तो आप क्या करेंगे ?"

"ज़िंदगी-भर उसका साथ दूंगा।"

"आपके साथ देने में ऐसी क्या खास बात है ?"

"यह तो उसको पता चलेगा।"

"और ऐसा कोई अगर मैं खुद को ही मान लूं ?"

"आपके मानने-भर से तो बात नहीं बनती।"

"आपका मानना ज़रूरी है ?"

"वह भी ज़रूरी है, और भी बहुत-सी बातें हैं।"

सत्यजित का अहं कभी-कभी तराश देता है, लेकिन जिस मुलम्मे में लपेटकर वह उसे सामने रखता है, उसका भी कोई जवाब नहीं। कभी-कभी गुस्से से तमतमाकर भी मुझे मुस्कराना पड़ा है।

मेरे सामने बैठा हुआ देव मुझसे अपने प्रेम का इज़हार कर रहा था। मेरा मन बारी-बारी पापा, अमित और सत्यजित के गिर्द चक्कर काट रहा था।

देव, जिसके साथ मैंने ज़िंदगी देखी, समझी थी।

अमित, जो मेरी ज़िंदगी से टूट चुका था। जिसे अब कभी जुड़ना नहीं था।

सत्यजित, जो शायद अपनी ज़िंदगी में कभी किसीको शामिल नहीं करेगा।

देव, जिसके साथ एक व्यवस्थित जिंदगी चल सकती थी।

सत्यजित, जिसके साथ सब कुछ अनिश्चित था।

"फिर कब मुलाकात होगी ?" मैं पूछती।

"कोई वायदा नहीं।" वह कहता।

"हफ्ते में, महीने में, साल में, कुछ तो कहिए ?"

"कहा न, कोई वायदा नहीं। मिलने को कल भी मिल सकते हैं या फिर अगले छः साल तक मुलाकात नहीं हो सकती।"

इसके बाद कहने को किसीके पास क्या रह जाएगा ? अपनी थकी

हुई ज़िंदगी में ही पूछ लेती :

'अनिश्चय का बोझ ढो लेगी क्या ?'

'कितना ? और कितना ?' जवाब मिलता।

अब मेरे सामने देव था। पुरानी यादें ताज़ी करता हुआ। अमरीका मुझे साथ न ले जाने की मजबूरी पर अफसोस करता हुआ। सुबह का भूला शाम को वापस आने की बात दोहराता हुआ।

देव को कोई जवाब दूं, इससे पहले मेरे सामने सत्यजित था। अपनी सारी तटस्थता, परायेपन और चारों ओर खिंची हुई लक्ष्मण-रेखा के बावजूद मेरी ओर अपलक देखता हुआ।

"द्विविधा के बारे में आप क्या सोचती हैं ?" एक बार उसने पूछा था।

"द्विविधा मन की वह हालत है, जब किन्हीं दो बातों को लेकर एक द्वन्द्व खड़ा हो जाए और आदमी कोई फैसला न ले सके।" मैंने जवाब दिया।

"एक बार विवेकानंद द्विविधा की हालत में पहुंच गए। उनके एक हाथ में नीबू का शर्बत था, जिसे वह पीना चाहते थे। दूसरे हाथ में एक छुरा था और उन्होंने फैसला कर लिया था कि अगर नीबू का शर्बत उन्होंने पी लिया तो खुद को छुरा मार लेंगे। मन की द्विविधा बढ़ती गई। फैसला नहीं कर पाए। दिमाग परेशान होता गया। फिर दोनों चीज़ें हाथ में लिए वह घर से बाहर निकले और सड़क पर बेतहाशा दौड़ने लगे। दौड़ते चले गए। द्विविधा बढ़ती गई, रफ्तार तेज़ होती गई। दौड़ते-दौड़ते जब वह थककर चूर हो गए तो उन्होंने दोनों ही चीज़ें रख दीं : 'फैसला दूसरे दिन होगा' उन्होंने खुद से कहा।"

मेरे सामने एक बिजली कौंध गई।

"फिर बात करेंगे देव, जल्दी क्या है !" मैंने चाय की प्याली खाली ट्रे में रख दी।

"मैं यह सोचकर आया था, तुमसे जवाब लेकर ही इंटरव्यू में जाऊंगा।"

"इंटरव्यू तो तुम्हें परसों देना है। अभी कौन-सा मुहूर्त टला जा रहा है।"

देव शांत हो गया। उसे भरोसा था कि अपनी बातों में वह मेरी यादें कुरेद चुका है। आपसी मनमुटाव मैं भूलने के लिए तैयार हो गई हूं।

और मैं देख रही थी, देव के साथ की सीधी-सादी, सपाट, आराम की जिंदगी। या फिर इसी तरह अकेलेपन के सैलाब में हाथ-पैर मारने की कोशिश, जिसमें तिनके की तरह सत्यजित नजर आता रहेगा, जब पास पहुंचूंगी, दूर निकल जाएगा; छटपटाती रहूंगी तो कभी कुछ पूछने नहीं आएगा; बुलाऊंगी तो लगेगा, मेरे ही इन्तजार में बैठा था।

अजीब कशमकश थी। देव तीन दिन मेरे पास रहा। रुकना तो और चाहता था, मैंने ही उसे वापस भेजा। तीन दिन तक सत्यजित से कोई संपर्क नहीं हो पाया। देव मेरे साथ ऑफिस तक जाता, शाम को छुट्टी होने से पहले मुझे लेकर घूमने निकल पड़ता। यहां तक कि घर आकर हाथ-मुंह धोकर कपड़ा बदलने का मौका भी उसने मुझे कभी नहीं दिया। रात को खाना खाकर बड़ी-बड़ी देर तक बातें करता रहता। आया का हाथ पकड़-कर जबर्दस्ती कमरे में बिठा लेता, फिर बच्चों जैसी कहानी सुनने की जिद करता।

देव का बदला हुआ रूप देखकर मैं उलझन में पड़ गई थी। कई बार कोशिश करके भी मैं उसे कोई सीधा जवाब नहीं दे पाई। उससे बातें करना मुझे बुरा नहीं लगा और उसके चले जाने पर कमरा भी मुझे सूना लगा था।

देव का इंटरव्यू अच्छा हो गया। योग्यता उसके पास थी, बिजनेस मैनेजमेंट का कोर्स वह अमरीका से करके आया था। सिफारिश के नाम पर अच्छे-अच्छे लोगों से जान-पहचान थी, नौकरी न मिलने का सवाल पैदा नहीं होता था। और शायद यही कारण था कि इतनी जल्दी वापस जाने की बात वह मान गया, क्योंकि दस दिन के अंदर ही अंदर उसे नौकरी पर आना था।

मेरे सवालों का जवाव कौन देता ?

पूरे हफ्ते मैं विक्षिप्त रही। खाना-पीना भूल गई, आंखों से नींद गायव हो गई। ऑफिस में रोज दो-चार वार सत्यजित का नंवर डायल करने के अलावा मैंने कुछ नहीं किया। एक दिन का काम दूसरे दिन पर टलता रहा।

"अगर आपकी तवीयत ठीक नहीं तो दो-चार दिन की छुट्टी लेकर आराम कीजिए।" वॉस ने सुझाया था।

लेकिन उनसे मैं क्या कहती कि घर की दीवारें मुझे काट खाने के लिए दौड़ती हैं! विस्तर पर लेटकर छत की ओर घूरने का खयाल ही मेरा दम घोंटने लगता है!

"देखती हूं दो-चार दिन," मैंने कहा : "अगर वात नहीं वनी तो छुट्टी ले लूंगी।"

न वात वनी, न मैंने छुट्टी ली। शनिवार को यह जानते हुए भी कि सत्यजित का कोई पता नहीं, मैं उस रेस्तरां में गई। दो घंटे अकेली वैठी रही। ब्लैक कॉफी के दो-तीन प्याले पिए। रात में जव घर पहुंची तो आंखों के आगे दुनिया घूम रही थी।

कमरे में पहुंचते ही पर्स मैंने एक ओर फेंका। विस्तर पर कटे हुए पेड़ की तरह गिर पड़ी और तकिये में मुंह छिपाकर फूट-फूटकर रोई।

आया मेरी परेशानियों से वाकिफ न हो, ऐसी वात नहीं थी, लेकिन उस पूरे हफ्ते मेरा व्यवहार उससे इतना रूखा था कि उस दिन मेरे नज़दीक आने की उसकी हिम्मत न पड़ी।

घर से थोड़ी दूर डॉ० मेहता की डिस्पेंसरी थी। कभी कोई तकलीफ होती तो वहीं से दवा वगैरह ले लेती। काफी देर वाद मन कुछ हलका हुआ तो डॉ० मेहता के नाम वीमारी की एक चिट लिखकर मैंने आया को भेजी।

जवाव में डॉ० मेहता खुद आ गए।

लाल-लाल आंखें, सूजा हुआ चेहरा। उन्हें कुछ वताने की जरूरत नहीं पड़ी। नींद की गोलियां देकर वह वापस चले गए।

मैंने भी आज्ञाकारी वच्चे की तरह गोलियां गले के नीचे उतारीं और

लगातार दो दिन और दो रातें सोकर काट दी। बीच मे इतनी ही देर के लिए उठी कि आया की दी हुई चीजें खा लूं, पानी पी लूं या ऑफिस खबर भेज दूं कि नही आ रही हूं। सत्यजित का खयाल एक हूक की तरह मन मे उठता रहा। टेलिफोन करने की तमन्ना जागती रही, लेकिन क्या भरोसा था कि जवाब मिलता ही, और यह रिस्क लेने के लिए शरीर मे ताकत भी तो चाहिए।

तीसरे दिन उठी तो नहा-धोकर सीधी डॉ० मेहता के पास पहुची। काफी देर तक इधर-उधर की बातें करने के बाद उन्होंने एक हफ्ता पूरा आराम करने की सलाह दी और कहा, "मन बदलने के लिए कही बाहर जाना बेहतर होगा।"

उनसे क्या कहती कि मन बदलने के लिए दुनिया में सिर्फ एक ही जगह है मेरे लिए, इसी सडक के दूसरे छोर पर और वहां पिछले हफ्ते से ताला बंद है।

उनकी हिदायतें लेकर घर की ओर चली। मन हुआ, दूसरी ओर मुड़कर एक बार और देख लूं।

क्या मिलेगा ? दरवाजे पर लटकता हुआ ताला।

मन अंधविश्वासों की हद से गुजरने लगा था। हमेशा का नास्तिक वह कितनी बार खुदा के सामने झुका।

सत्यजित···कहां था वह ? कैसा था ?···खुदा नाम की कोई चीज अगर दुनिया मे हो तो उसे सलामत रखे। मेरी जिंदगी का वह कौन-सा दिन होगा, जब मैं उसे देखूंगी, उससे बात करूंगी !

और जब वह दिन आया···

"सुनाइए, क्या खबर है ?" हमेशा का पेट सवाल मेरे सामने था।

"ठीक।" सवाल के सामने जवाब जाकर खड़ा हो गया।

"क्या बात है ?" उसकी आंखों की चुहल भी वही थी।

"कुछ नही।" मेरा मन वैरागी होने लगा।

"कुछ तो ?" उसने कुरेदा।

"नही।" मुझे गुस्सा आ गया।

"कैसी हैं आप ?"

"ठीक हूं।" मेरी आवाज़ रूखी थी।

"बिलकुल ठीक ?" वह साफ़-साफ़ मुझे छेड़ रहा था।

"आपको शुबहा है ?" मैं तैश में आ गई।

"कुछ नाराज़ मालूम पड़ती हैं।" उसने मज़ा लिया।

"किसपर ?" मैं खौखिया पड़ी।

"पता नहीं। शायद खुद पर।" वह चुप हो गया।

मन हुआ, कॉफी का प्याला दूर फेंक दूं और सत्यजित को कंधों से झिझोड़कर पूछूं :

'दूसरों को ज़िंदगी का पाठ पढ़ाने वाले, 'पता नहीं' का बेमानी नारा कब बंद करोगे ? तुम्हारी आंखें देख नहीं रही हैं, तुमसे एक अदद मुलाकात के इंतज़ार में मेरा क्या हाल हो गया है ? तुम्हारा वैरागी मन कब तक इनकार करता रहेगा कि तुम मेरे लिए ज़रूरी हो, तुम्हें खोकर मैं खुद से अलग हो जाऊंगी !'

लेकिन बोली :

"कोई खास बात नहीं, पिछले दिनों तबीयत कुछ गड़बड़ रही है।"

"मुझे अफसोस है कि पिछले शनिवारों को मैं आ नहीं सका। मैंने तो सोचा था, आप बहुत नाराज़ होंगी।"

"क्यों ? अकसर ऐसा होता है। किसीके भी साथ हो सकता है। वैसे, बाहर गए थे क्या ?"

"हां, एक बहुत पुराना दोस्त आ गया था। बैठे-बैठे प्रोग्राम बन गया। हम लोग ट्रैकिंग पर चले गए। सोचा था, दो-चार दिन में लौट आऊंगा, लेकिन लग गए पूरे तीन हफ्ते।'

"ऐसा ही होता है। वैसे खबर देना बड़ा मुश्किल था ?"

"मैंने कहा न, सोचा था, दो-चार दिन में वापस आ जाऊंगा।"

"प्रोग्राम तो पहले ही तय किया होगा। ट्रैकिंग में दो-चार दिन का तो कोई मतलब नहीं ?"

"प्रोग्राम तो तय था। उसके हिसाब से चलते तो शनिवार तक वापस आ जाते ; लेकिन एक बार चल पड़े तो चलते चले गए।"

"छोड़िए। कहां-कहां गए ?" मुझे लगा, मैंने दिल पर बड़ा-सा पत्थर

रख लिया है।

"पहले यह बताइए कि आप नाराज नहीं हैं।"

"कहा तो। इसमें नाराजी की क्या बात है?"

"यह तो मैं नहीं जानता, लेकिन आप पहले जैसे मूड में नहीं हैं।"

"क्या फर्क पड़ता है?"

"पड़ता है।"

"क्या?"

सत्यजित की गंभीर आंखें पल-भर को मेरे चेहरे पर टिकीं, फिर वह दूसरी ओर देखने लगा। शायद वह ऐसी बात कह गया था, जिसे कहने की उसकी आदत नहीं थी।

"तो मेरे नाराज होने से आपके लिए फर्क पड़ता है?" मेरे होंठों पर एक मुस्कराहट आकर चली गई।

"मैंने ऐसा कुछ कहा क्या?" उसने खुद पर काबू पा लिया था।

"पता नहीं।"

"अब आपको भी बातों का पता नहीं रहता?"

"सोहबत का असर तो पड़ना ही चाहिए।"

मैंने देव के आने की बात बताई तो उसने मुझे बधाई दी। कहीं एक चुभन महसूस हुई।

"वह मुझसे शादी करना चाहता है।" मैंने एकदम कह दिया।

"फिर तो दोहरी बधाई। मिठाई कब खिलाएंगी?"

मेरी आंखें उसके चेहरे पर पथरा गईं।

"हां, तो मिठाई कब मिलेगी?" बड़ी देर तक मैं उसकी ओर देखती रही तो वह बोला।

"मिलेगी।" अपनी ही आवाज मुझे कब्र से उठती हुई मालूम पड़ी।

"कब?" मुझे उसका 'कब' एक निर्दोष बच्चे की ज़िद मालूम पड़ा।

"यह तो देव बताएगा।"

"उन्हें तो मैं जानता भी नहीं।"

"जान लेंगे।"

"मेरी मुलाकात कराएंगी?"

"क्यों नहीं ?"

मेरे मन का किला ढह गया। मेरी आंखें सत्यजित के चेहरे से हटकर कहीं दूर ठहर गईं। सत्यजित ने कुछ देखा या महसूस किया, मुझे मालूम नहीं। बड़ी देर तक कोई किसीसे नहीं बोला। वक्त जहां का तहां रुका रहा।

भरे हुए रेस्तरां की मेज़ें एक-एक कर खाली हो गईं। हमारी चेतना कहीं खो गई थी।

वेटर ने बिल लाकर रखा तो हम गहरी नींद से जागे। मैंने बिल उठा लिया तो सत्यजित का हाथ मेरे हाथ पर आ गया :

"प्लीज़...!"

दूसरे हाथ से पर्स खोलकर मैंने पैसे वेटर की प्लेट में रख दिए।

सत्यजित ने वेटर को इशारा किया। वह खड़ा रहा। पैसे प्लेट में पड़े रहे। सत्यजित ने मेरा हाथ छोड़ दिया।

प्लेट से उठाकर पैसे मेरे पर्स में रखते हुए उसने बिल पे किया। हम बाहर आ गए।

"देव साहब से मिलकर मुझे खुशी होगी।" उसने रास्ते में कहा।

मैंने कोई जवाब नहीं दिया।

"आप उनके साथ सुखी रहेंगी।" उसने ऐसे कहा, जैसे खुद से ही कह रहा हो।

मैं खामोश रही।

टैक्सी मेरे घर की ओर मुड़ी तो मैं सजग हुई।

"आज मैं आपको छोड़ती हुई जाऊंगी।" मैंने कहा।

"लेकिन...।"

"मैंने कह दिया।"

मेरा घर पीछे छूट गया। टैक्सी जाकर सत्यजित के घर के सामने रुकी।

सत्यजित अपनी ओर का दरवाज़ा खोलकर बाहर निकला। मैं बैठी रही। दूसरी ओर आकर बिना कुछ कहे उसने दरवाज़ा खोल दिया। बिना कुछ कहे मैं भी उसकी बगल में खड़ी हो गई। टैक्सी वाला पैसे लेकर

चला गया।

"दस मिनट के लिए हम बैठ सकते हैं?" उसने पूछा।

जवाब मे मैंने सिर हिलाया।

हम उसके ड्राइंगरूम मे बैठे थे। एक ही सोफे पर पास-पास।

"अपनी जिंदगी मे सबसे ज्यादा खुश आप कब रही है?" उसने पूछा।

"पता नहीं।" मेरा जवाब उसे अच्छा नही लगा।

"आपकी महत्त्वाकांक्षा क्या है?"

"कुछ भी नही।"

"देव के साथ आप खुश रहेंगी?"

"क्या मालूम?"

"बात करने का मूड नही है?"

"ऐसी तो कोई बात नही।"

"देव के साथ आप खुश रहेंगी?" उसने अपना सवाल दोहराया।

"पता नही।"

"देव आपके साथ खुश रहेंगे?"

"इसका जवाब मैं कैसे दे सकती हूं!"

"उन्होंने शादी का प्रस्ताव रखा है?"

"हां।"

"इसका मतलब है कि आपके साथ उन्हे खुशी मिलेगी। सिर्फ यह कहना चाहता हू कि उनका प्रस्ताव आपको मान लेना चाहिए।"

"सलाह के लिए शुक्रिया।"

वह थोड़ी देर चुप रहा, फिर अचानक पूछ बैठा:

"देव के रास्ते मे कहीं मैं तो नहीं हूं?"

मैंने उसकी ओर देखा। बोली नही।

उसने मेरा हाथ अपने हाथ मे ले लिया:

"मिस सरकार, मैं जिंदगी के तौर-तरीकों से बिलकुल अनजान एक जीती-जागती मशीन हूं। एक रोबो के पास दिल-दिमाग जैसी कोई चीज नही होती। मैं अपनी बात ठीक से कह भी पाऊंगा, मुझे संदेह है, क्योंकि मेरी भाषा आप लोगों की भाषा से बिलकुल अलग है। मशीन के पुर्जे मेरी बात समझ

सकते हैं, आप लोग तो जीते-जागते इंसान हैं। मुझे लगता है, देव के साथ आप खुश रहेंगी।"

मैंने अपना हाथ एक झटके से छुड़ा लिया :

"और कुछ कहना है?" मेरी आवाज़ कांप रही थी। आंखें बरसने के लिए बेताब थीं।

"सॉरी!"

काश, सत्यजित एक बार मेरी आंखों में झांककर देखता! काश, एक बार सारे मानापमान भूलकर मैं उसके घुटनों पर सिर रख देती! एक बार, सिर्फ एक बार कह पाती : 'मुझे समझने की कोशिश करो। मेरी आंखों में देखो। मेरे मन की आवाज़ सुनो। तुम्हारा यह परायापन देव ही नहीं, दुनिया के किसी भी पुरुष से मुझे बंधने नहीं देगा। सत्य···मुझे तुम्हारी ज़रूरत है, सिर्फ तुम्हारी।'

लेकिन आंसुओं का सैलाब मैंने रोक लिया।

"माफ कीजिएगा!" मैं उठकर खड़ी हो गई : "फिर बात करेंगे।"

"एक वायदा कीजिए।" वह बैठा रहा।

मैंने उसकी ओर देखा।

"आप कल से लिखना शुरू करेंगी।" उसने कहा।

"कोई वायदा नहीं।"

'करना होगा।"

"क्यों?"

"इसलिए कि आपको लिखना है।"

"लिखना मैं कल भी शुरू कर सकती हूं। छः साल बाद भी।"

"यह नहीं चलेगा। आप मेरी बात दोहरा रही हैं।"

"यही चलेगा। आपकी बात दोहराने का मुझे कोई अफसोस नहीं।"

५

अपनी बीमारी और सत्यजित के लौटने के बीच देव का एक तार और एक पत्र इलाहाबाद से आ चुका था। तार उसके सकुशल पहुंचने का

था और पत्र मे क्या था, यह मैंने देखा नहीं···

सत्यजित मे मेरी मुलाकात के पहले ही देव अपनी नौकरी पर आ गया। मकान मिलने तक वह मेरा मेहमान बनकर रहना चाहता था, लेकिन मैं इसके लिए राज़ी नहीं हुई। उसके लिए मकान तलाशने में मुझे दो-तीन शामें लगानी पड़ी। अगर मैं चाहती तो जोरबाग मे भी मकान मिल सकता था। बहरहाल साउथ एक्सटेंशन, कैलाश मे भटकने के बाद ग्रेटर कैलाश में एक मकान मैंने उसके लिए पसंद कर लिया। ग्रेटर कैलाश मे इसलिए कि वह जोरबाग से कुछ दूर पड़ता था। वैसे इतनी या इससे दस गुनी ज्यादा दूरी भी देव के लिए कोई मायने नहीं रखती थी। कंपनी से मिली हुई गाड़ी थी। किराया भी कंपनी को देना था, इसलिए खासा बड़ा मकान लिया गया।

उस मकान को फर्निश करने मे खासी जहमत हुई। देव चाहता था, सब कुछ मेरी पसंद का हो और उसके साथ बिताए हुए क्षण मुझे बुरे नहीं, कभी-कभी उबाने वाले ज़रूर लगते रहे। मैंने उससे कई बार कहा :

"मेरी पसंद के पीछे इतना मत पड़ो कि मेरे लिए मुश्किल होने लगे।"

देव ने मेरी बात को गंभीरता से कभी नहीं लिया।

आखिर में मुझे उससे साफ-साफ कहना पड़ा :

"देव, अगर बुरा न मानो तो एक बात कहना चाहूंगी।"

"बोलो।"

"यह ठीक है कि तुम्हारे खिलाफ मेरे पास कहने को कुछ नहीं है, अमरीका से लौटकर तुम जिस तरह मिले हो, अगर बीच की कुछ घटनाएं इस तरह न गुज़री होतीं, तो मेरे लिए सौभाग्य की बात होती···।"

"तुम्हारा मतलब अमित से है?"

मैंने उसे 'चक्रवात' वाला प्रसंग छोड़कर अमित के बारे मे सब कुछ बता दिया था।

"अमित, उससे पहले माधा और अब जिन हालात मे मैं हूं। मेरा मतलब सबसे है।"

"हां। माफ करना, मैंने तुम्हें बीच में ही टोक दिया था।"

"मैं यही कह रही थी कि फिलहाल मैंने शादी की बात सोचनी बंद कर दी है। एक दोस्त की हैसियत से हम मिलते रह सकते हैं।"

देव काफी देर तक चुप रहा था, फिर मेरी आंखों में सीधे देखते हुए उसने पूछा था :

"तुम्हारे दिमाग में अगर कोई और बात हो तो बता दो। मैं तुम्हारे रास्ते में नहीं आऊंगा।"

कहना चाहती थी, है एक ऐसा आदमी, जिसके सामने तुम क्या अमित के बारे में भी मुझे सोचना पड़ता, लेकिन झूठ बोली :

"ऐसी कोई बात होती तो बताने में मुझे कोई एतराज़ नहीं होता, और आगे अगर कोई हुआ तो सबसे पहले तुम्हें ही बताऊंगी।"

देव संतुष्ट हो गया। उसे मुझपर भरोसा था।

भरोसा मैं भी करना चाहती थी। अगर सत्यजित ने ज़रा-सा भी मौका दिया होता तो सारी बातें वहीं खत्म हो गई होतीं। मेरी ज़िंदगी का नक्शा दूसरा होता। देव या सत्यजित कोई एक मेरा होता।…लेकिन होना तो वह नहीं था।

देव के व्यवहार में इससे कोई फर्क नहीं आया।

वह जब चाहता, मेरे घर आ जाता। देर-देर तक बैठा रहता। जब चाहता, मुझे अपने साथ ले जाता। न चाहते हुए भी मुझे उसके साथ जाना पड़ता, क्योंकि मेरे लिए वह एक ज़रूरत बनता जा रहा था।

सत्यजित से जब मुलाकात होती, वह लिखने की बात पूछता। मेरे लिए दम लेने की फुरसत नहीं थी। दिन में एक या दो टेलिफोन देव के रोज़ आते। रोज़ शाम मिलने का इसरार करता। कभी-कभी उससे पीछा छुड़ाना मुश्किल हो जाता। इसी कशमकश में दिन गुज़रते रहे।…

एक दिन देव ने अचानक पूछ लिया :

"शनिवार की शाम तुम हमेशा व्यस्त रहती हो। मिलने को जब कहता हूं, कोई न कोई काम आ जाता है।"

"व्यस्तता अपने हाथ में तो नहीं होती देव!"

"तुम यह कहना चाहते हो कि मैं जानबूझकर कोई काम निकाल लेती हूं?"

"मैं ऐसी कोई बात नहीं कहना चाहता।"

"फिर?"

"कुछ नहीं। शनिवार ही एक ऐसा दिन है, जब कहीं देर तक बैठ सकते हैं। तुम्हारे एक शनिवार पर मेरा हक भी तो हो सकता है।"

मन में आया, सत्यजित से कहकर मिलने का दिन बदल लूं। जानती थी, सत्यजित को कोई आपत्ति नहीं होगी; लेकिन सत्यजित को तो किसी बात से कोई आपत्ति नहीं। फिर दिन ही क्यों बदला जाए!

मैं बराबर उससे मिलती रही। देव को लेकर मेरी-उसकी फिर कोई बातचीत नहीं हुई।

उससे हर बार वायदा करने के बाद भी मेरा लिखना लगातार बंद रहा।

लिखने बैठती तो खाली पन्ने पर उभरती हुई सत्यजित की तस्वीर होती। उसकी आंखें मेरे चेहरे पर टिकी होतीं। बिस्तर पर लेटकर सोचना चाहती तो ऊपर छत से उभरती हुई उसकी आकृति मेरे सामने होती। आंखें बंद कर लेती तो मुझे अपने बहुत पास उसकी उपस्थिति का एहसास होता।

शायद पहली बार सत्यजित के साथ मैंने 'हेमरहेड' देखा था। कहीं आते-जाते अचानक टैक्सी मोड़कर मैं शीला पहुंच गई थी :

"आज एक फिल्म देखी जाए?" मैंने एक प्रस्ताव रखा था।

"अगर आप चाहें।" वह बोला।

लड़की होने का फायदा उठाते हुए टिकट मैंने ले लिया, जिसका सत्यजित ने बुरा माना :

"मेरे रहते हुए बिल की अदायगी करना या इस तरह आगे बढ़कर खर्च करना क्या अच्छा लगता है?"

"इसमें बुराई क्या है?" मैंने उसकी ओर गौर से देखा था।

"बुराई की बात मैं नहीं जानता, लेकिन यह फर्ज मेरा है।"

"अभी हम लोग इस तरह के किसी अनुबंध में नहीं बंधे हैं।"

सत्यजित गंभीर हो गया था। बड़ी देर तक वह कुछ नहीं बोला।

फिल्म कुछ खास नहीं थी। मुझे हैरानी होती रही, इस तरह की फिल्म

देखने में कैसे आ गई और यह कि सत्यजित मेरी पसंद के बारे में क्या सोचेगा !

दो बार अनजाने मेरा हाथ उसकी कुहनी से लग गया। मैंने एक सिहरन महसूस की। मन हुआ, उसका हाथ अनपने हाथ में लेकर देखूं, कैसा लगता है; लेकिन ज़रा-ज़रा देर बाद सत्यजित ने अपना हाथ धीरे से हटा लिया। मुझे अपनी कमज़ोरी पर अफ़सोस हुआ था।

"फिल्म कैसी लगी ?" अच्छी तरह बोर होने के बावजूद मैंने उससे पूछा था।

"मुझे अच्छी लगी।" सत्यजित ने ऐसे कहा, जैसे फिल्म मेरे साथ देखने से ही अच्छी हो सकती है।

सत्यजित के जिस्म का पहला स्पर्श मुझे आज भी याद है। उस दिन से उसका हाथ अपने हाथ में लेने की तमन्ना बढ़ती गई। पास-पास बैठे हुए अकसर मैं कुहनी से पंजों तक खुले उसके हाथ की ओर देखती रही। आज भी मुझे हैरानी होती है, उसका हाथ अपने हाथ में लेना ऐसी कौन-सी बड़ी बात थी, जिसको सोचने में मैंने महीनों लगा दिए ! महीनों अपलक आंखों से उसे निहारती रही। और वैसा करने से पहले अच्छी-खासी भूमिका भी बना डाली।

"आप एक सज़ा के हकदार हैं।" मैंने कहा था।

"कैसे ?"

"आप कोई इत्तिला दिए बगैर गायब हो गए और तीन हफ्ते बाद लौटे।"

"तो दीजिए सज़ा।" वह मुस्कराया था।

"अभी नहीं, वक्त आने पर।"

फिर उसी दिन थोड़ी देर बाद :

"अगर आपके साथ कोई ज्यादती करे तो आप क्या करेंगे ?" मैंने पूछा।

"कुछ नहीं।"

"आपका मतलब, आप चुपचाप बैठे रहेंगे ?"

"तो क्या करूंगा ?"

"अजीब बात है! आपके मन में बदले की बात नहीं उठेगी ?"
"यह तो निर्भर करता है, ज्यादती मुझपर कौन कर रहा है।"
"मान लीजिए, मैं करूं।"
"तो आपसे क्या बदला लूंगा ?"
"क्यों ?" कहते हुए मैं खुद ही झेंप गई।
सत्यजित मुस्कराया। मेरी ओर देखता रहा।
"चलिए, अब की बार माफ किया। अगली बार मिलूंगी तो भारी सज़ा मिलेगी आपको।" झेंप मिटाते हुए मैंने कहा।
"इंतज़ार करूंगा। लेकिन किस तरह की सज़ा देंगी आप ?"
"यह आपको क्यों बताया जाए ?"
"इसलिए कि मैं तैयार रहूं।"
"तैयार तो आप हैं; सज़ा कैसी होगी, यह उसी दिन पता चलेगा।"
"लेकिन एक शर्त है।"
"शर्त ? ज्यादती है, बहरहाल इतनी छूट दी जाती है।"
"जो कुछ भी आप करें, अपने प्रति ईमानदार रहें।"
मैं चलते-चलते रुक गई। मेरा हाथ उसके बाज़ू पर पहुंच गया :
"आपका मतलब ?" मेरे हाथ की गिरफ्त बढ़ी।
"अपने को भुलावे में नहीं रखेंगी आप।"
पल-भर को हम एक-दूसरे की आंखों में देखते रहे। गिरफ्त ढीली पड़कर छूट गई :
"नहीं, ऐसा नहीं होगा।" मुझे अपनी ही आवाज़ दूर से आती मालूम पड़ी।
"यू आर वेलकम।" उसने कहा था।

सत्यजित को सज़ा देने की लंबी-चौड़ी योजना बनाई। कितने रद्दो-बदल किए। खाली पन्नों पर आड़ी-तिरछी कितनी ही रेखाएं खींचीं। फिर काटीं, फिर खींचीं।
और जब वह दिन आया।
हम फिर एक सिनेमा हॉल में थे।

कई विज्ञापनों के बाद समाचार-दर्शन, खेल-कूद, दो या तीन फिल्मों का ट्रेलर। कई बार मेरा हाथ उठकर सत्यजित के हाथ तक पहुंचने की कोशिश में फिर-फिर वापस आ गया। सोचा था, अपना एक हाथ उसके हाथ पर रखकर सिर उसके कंधे से टिका दूंगी और आराम से फिल्म देखती रहूंगी, लेकिन सत्यजित के सामने न जाने मुझे क्या हो जाता! अरसे तक नज़र भर उसे देखने के अलावा अपनी ओर से मैं कुछ नहीं कर सकी थी।

उस दिन इंटरवल के बाद सारी हिम्मत बटोरकर आखिर मैंने एक हाथ उसकी कुहनी पर रख दिया।

सत्यजित ने मेरे अंदर की सारी कशमकश महसूस की, लेकिन हिला नहीं। आंखें उसकी स्क्रीन पर लगी रहीं, फिल्म के मूड के साथ उसका मूड बनता-बिगड़ता रहा। कम से कम कोई फर्क मुझे नज़र नहीं आया। फर्क, जो मैं देखना चाहती थी।

थोड़ी देर मेरे हाथ को अपने हाथ पर उसी तरह पड़ा रहने देने के बाद धीरे-धीरे उसने अपने हाथ में ले लिया। कोई आवेग, कोई उन्माद नहीं। बड़ी सहजता से वह उससे खेलता रहा, बड़ी हिफाज़त से संभाले रहा।

फिल्म खत्म हो गई। परदे पर तिरंगा आ गया, हॉल में रोशनी होने लगी। हम उठकर खड़े हो गए, लेकिन हड़बड़ाकर उसने मेरा हाथ नहीं छोड़ा। मेरा चेहरा उस दिन सुर्ख ज़रूर हुआ होगा। मैं बड़ी देर तक उसकी ओर नहीं देख पाई।

बाहर आए तो कुछ देर सड़कों का चक्कर काटते रहे। कॉफी पीने की बात उठी तो मैंने 'अलका' में चलने को कहा।

"एकांत की भावुकता में ज़्यादा देर रहना नहीं चाहता।" उसने कहा : "अगर आप बुरा न मानें तो कॉफी हाउस चलते हैं।"

मुझे बुरा लगा, लेकिन उसकी शख्सियत में ऐसा कुछ था कि उसकी बात टाली नहीं जा सकती थी।

"सज़ा पसंद आई?" कॉफी की चुस्की लेते हुए मैंने पूछा।

"आपकी दी हुई सज़ा नापसंद कौन करेगा?"

"यह तो एक दूसरा सवाल हुआ।"

"तो जवाब दीजिए।"

"वह तो आप देंगे।"

"आप दीजिए।"

"सवाल मैंने पूछा था।"

"मैंने भी।"

"मेरा सवाल पहला था।"

"मेरा दूसरा।"

"तो पहले आप जवाब दीजिए। फिर मैं दूंगी।"

"दोनों का जवाब आप दीजिए।"

"यह ज्यादती है। आपको पता है, इसकी भी सज़ा हो सकती है।"

"आपको छूट है।"

मैं अनमनी हो गई। सत्यजित भी कुछ वैसा ही था।

मेरा मन सत्यजित के साथ बंधा रहा। मेरा वक्त ज्यादातर देव के साथ गुज़रने लगा।

हफ्ते में एक बार से ज्यादा शायद ही कभी सत्यजित से मुलाकात हुई हो।

देव हर शाम मुझे इंतज़ार करता हुआ मिलता।

इस दोहरी ज़िंदगी का बोझ दिनोंदिन बढ़ने लगा। जो समय मैं सत्यजित के साथ गुज़ारना चाहती, उस समय का मालिक देव था; क्योंकि सत्यजित तेज़ रफ्तार का कायल नहीं था, उसे ज़िंदगी की धीमी रफ्तार पसंद थी। और उसकी धीमी रफ्तार में मेरा दम घुटने लगता। अपने को उस घुटन से बचाने के लिए, अपने को ज़िंदा रखने के लिए मुझे देव का सहारा जरूरी मालूम पड़ता। सत्यजित से मिलने वाले दिन के इंतज़ार में छ: और दिन मुझे गुज़ारने पड़ते, जो सत्यजित के लिए आसानी से बीत जाने वाले रहे हों, मेरे लिए बहुत भारी थे।

अगर किसी तरह मैं लिखना शुरू कर पाती, मेरी कलम मेरा साथ देती तो यह घुटन कुछ कम हो सकती थी। हो सकता है, लिखने में रम-कर सत्यजित या देव किसीसे मिलने की फुरसत मुझे न होती, लेकिन…

एक 'लेकिन' था, जो मुझे तबाह कर रहा था। सर पटककर भी मैं कोई समाधान ढूंढ़ नहीं पा रही थी और तब अपना वक्त गुज़ारने के लिए मुझे देव की ज़रूरत कैसे न पड़ती ?

सत्यजित मेरी उपेक्षा करता हो, ऐसी बात मैं नहीं कह सकती। मुझे भरोसा था, अगर रोज़ मिलने की बात भी मैं उससे कहती तो वह इनकार नहीं करता; लेकिन ऐसा करके क्या मैं खुश होती ?

मैं अकसर सोचा करती, आखिर मैं उससे क्या चाहती हूं ?

उसके मिलने-जुलने, बात-व्यवहार में कोई कमी नहीं थी। फिर वह कौन-सा एहसास था, जो मुझे खाए जा रहा था ?

जिस दिन उससे मिलती, उसके बाद के दो दिन जैसे-तैसे बीत जाते, तीसरे दिन से मन फिर बेचैन होने लगता।

दफ्तर में कोई टेलिफोन आता तो दिल धड़कने लगता। जानते हुए भी कि सत्यजित नहीं हो सकता, लपककर रिसीवर उठाती। दूसरे सिरे पर देव बोलता तो मेरा मन सत्यजित के लिए भटकने लगता।

सत्यजित मुझे टेलिफोन करे, इसके लिए कोई ज़रूरी बात होनी चाहिए। मेरे लिए टेलिफोन करना ही एक ज़रूरी बात थी, लेकिन सत्यजित के लिए क्या ज़रूरी था, इसका निर्धारण कौन करता ?

कितनी बार तंग आकर फैसला किया, सत्यजित से साफ-साफ बात कर लूं; लेकिन जब मिली तो फैसला जहां का तहां धरा रह गया। सत्यजित के रुख में कोई कमी नज़र नहीं आई। खुद को ही हज़ार बार कोसते हुए मैं वापस आ गई। हर बार मन को एक ओर लगाकर मैंने लिखने की कोशिश की। हर बार मन बगावत करता रहा।

उपन्यास के लिए प्रकाशक के दो पत्र आ चुके थे। एक बार वह ऑफिस में मिलने भी आया।

"लिख रही हूं, कुछ हफ्ते और लग जाएंगे।" हर बार मैं झूठ बोली।

"विज्ञापन दे दिया गया है। अगर समय से पांडुलिपि न मिली तो दिक्कत होगी।" वह अपनी परेशानी का हवाला देता रहा।

"देरी के लिए अफसोस है, लेकिन उपन्यास 'रेयर' होगा।"

सत्यजित जिस उपन्यास का नायक हो, उसे 'रेयर' ही होना चाहिए; लेकिन क्या वह रीना सरकार की कलम से लिखा जा सकेगा ? एक सवालिया निशान मेरे सामने दिनोदिन बड़ा होने लगा था।

एक दिन 'राष्ट्रवाणी' के संपादक का टेलिफोन आया :

"कुछ महीनों पहले 'सृजन' में आपका एक लेख पढ़ा था। हाल ही में आपके दोनों उपन्यास खत्म किए हैं। अपनी सशक्त अभिव्यक्ति के लिए मेरी बधाई स्वीकार करें।"

मन को एक धक्का लगा। किसकी सशक्त अभिव्यक्ति ? कौन-सा लेख ? कैसे उपन्यास ?

फिर भी एक लेखक का मुखौटा था। शुक्रगुज़ार हुई। अंत में वह असली बात पर आए :

"राष्ट्रवाणी के लिए एक लेख चाहिए, मनोवैज्ञानिक। विषय है—'द्विविधा'।"

"कितना बड़ा, कब तक ?" पूछ बैठी।

"टाइप किए हुए आठ-दस पृष्ठ। एक हफ्ते के अंदर दे दें तो कृपा होगी।"

"पहुंच जाएगा।"

कह तो दिया, लेकिन सोचने लगी—लिखेगा कौन ?

सोचती रही। न जाने कब तक आंखें सामने दीवार पर लगी रहीं।

चारों ओर एक खालीपन था। समझ में नहीं आया, क्या करूं !

अपनी बेखुदी में टेलिफोन का रिसीवर हाथ में आ गया और मैं सत्यजित से मिलने का इसरार करने लगी।

शनिवार आने में तीन दिन बाकी थे।

"ख़ैरियत तो है ?" सत्यजित पूछ रहा था।

"कोई खास बात नहीं।"

"मिलना जरूरी है ?"

"वरना आपको तकलीफ क्यों देती !"

एक 'लेकिन' था, जो मुझे तबाह कर रहा था। सर पटककर भी मैं कोई समाधान ढूंढ़ नहीं पा रही थी और तब अपना वक्त गुज़ारने के लिए मुझे देव की ज़रूरत कैसे न पड़ती ?

सत्यजित मेरी उपेक्षा करता हो, ऐसी बात मैं नहीं कह सकती। मुझे भरोसा था, अगर रोज़ मिलने की बात भी मैं उससे कहती तो वह इनकार नहीं करता; लेकिन ऐसा करके क्या मैं खुश होती ?

मैं अकसर सोचा करती, आखिर मैं उससे क्या चाहती हूं ?

उसके मिलने-जुलने, बात-व्यवहार में कोई कमी नहीं थी। फिर वह कौन-सा एहसास था, जो मुझे खाए जा रहा था ?

जिस दिन उससे मिलती, उसके बाद के दो दिन जैसे-तैसे बीत जाते, तीसरे दिन से मन फिर बेचैन होने लगता।

दफ्तर में कोई टेलिफोन आता तो दिल धड़कने लगता। जानते हुए भी कि सत्यजित नहीं हो सकता, लपककर रिसीवर उठाती। दूसरे सिरे पर देव बोलता तो मेरा मन सत्यजित के लिए भटकने लगता।

सत्यजित मुझे टेलिफोन करे, इसके लिए कोई ज़रूरी बात होनी चाहिए। मेरे लिए टेलिफोन करना ही एक ज़रूरी बात थी, लेकिन सत्यजित के लिए क्या ज़रूरी था, इसका निर्धारण कौन करता ?

कितनी बार तंग आकर फैसला किया, सत्यजित से साफ-साफ बात कर लूं; लेकिन जब मिली तो फैसला जहां का तहां धरा रह गया। सत्यजित के रुख में कोई कमी नज़र नहीं आई। खुद को ही हज़ार बार कोसते हुए मैं वापस आ गई। हर बार मन को एक ओर लगाकर मैंने लिखने की कोशिश की। हर बार मन बगावत करता रहा।

उपन्यास के लिए प्रकाशक के दो पत्र आ चुके थे। एक बार वह ऑफिस में मिलने भी आया।

"लिख रही हूं, कुछ हफ्ते और लग जाएंगे।" हर बार मैं झूठ बोली।

"विज्ञापन दे दिया गया है। अगर समय से पांडुलिपि न मिली तो दिक्कत होगी।" वह अपनी परेशानी का हवाला देता रहा।

"देरी के लिए अफसोस है, लेकिन उपन्यास 'रेयर' होगा।"

सत्यजित जिस उपन्यास का नायक हो, उसे 'रेयर' ही होना चाहिए; लेकिन क्या वह रीना सरकार की कलम से लिखा जा सकेगा? एक सवालिया निशान मेरे सामने दिनोदिन बड़ा होने लगा था।

एक दिन 'राष्ट्रवाणी' के संपादक का टेलिफोन आया :

"कुछ महीनों पहले 'सृजन' में आपका एक लेख पढ़ा था। हाल ही में आपके दोनों उपन्यास खत्म किए हैं। अपनी सशक्त अभिव्यक्ति के लिए मेरी बधाई स्वीकार करें।"

मन को एक धक्का लगा। किसकी सशक्त अभिव्यक्ति? कौन-सा लेख? कैसे उपन्यास?

फिर भी एक लेखक का मुखौटा था। शुक्रगुज़ार हुई। अंत में वह असली बात पर आए :

"राष्ट्रवाणी के लिए एक लेख चाहिए, मनोवैज्ञानिक। विषय है—'द्विविधा'।"

"कितना बड़ा, कब तक?" पूछ बैठी।

"टाइप किए हुए आठ-दस पृष्ठ। एक हफ्ते के अंदर दे दें तो कृपा होगी।"

"पहुंच जाएगा।"

कह तो दिया, लेकिन सोचने लगी— लिखेगा कौन?

सोचती रही। न जाने कब तक आंखें सामने दीवार पर लगी रहीं।

चारों ओर एक खालीपन था। समझ में नहीं आया, क्या करूं!

अपनी बेखुदी में टेलिफोन का रिसीवर हाथ में आ गया और मैं सत्यजित से मिलने का इसरार करने लगी।

शनिवार आने में तीन दिन बाकी थे।

"खैरियत तो है?" सत्यजित पूछ रहा था।

"कोई खास बात नहीं।"

"मिलना जरूरी है?"

"वरना आपको तकलीफ क्यों देती!"

और मुलाकात होने पर वही ज़रूरी-गैरज़रूरी बातों की परिभाषाएं।

सोचा था, सत्यजित को सारी बात साफ-साफ बताकर कहूंगी—'द्विविधा' पर कुछ बातचीत करनी है।

लेकिन मैंने आधी बात बताई :

"आज 'द्विविधा' पर कुछ बात करने की तबीयत थी।"

"ऐसा मूड अचानक कैसे बन गया?"

"एक दिन आप कुछ कह रहे थे। विवेकानंद की मिसाल भी आपने दी थी। उसे एक बार फिर से बताएंगे?"

"कहा तो था; लेकिन न जाने किस मूड में क्या-क्या बक गया था। उतनी बातें आज कैसे कर सकता हूं?"

एक बहुत बड़ा 'क्यों' ज़बान पर आकर जम गया। मैं खामोश हो गई। उस दिन बात कुछ जमी नहीं।

देव को मैंने टेलिफोन कर दिया था—'राष्ट्रवाणी' के संपादक से मिलना है, शाम को व्यस्त रहूंगी।

आने वाले पूरे हफ्ते देव से मैं नाममात्र को मिली। शनिवार की पूरी शाम सत्यजित के साथ बिताई। लेख की शुरुआत कई बार की, कई बार फाड़कर कागज़ जला दिए।

इतवार को मैंने आया से कह दिया—किसी तरह की बाधा नहीं पहुंचनी चाहिए। एक बहुत ज़रूरी लेख लिखना है।

बाधा का मतलब था—देव। आया जानती थी। देव के प्रति मेरी बेरुखी उसे पसंद नहीं थी, लेकिन मैंने उसे कुछ कहने का मौका नहीं दिया।

सुबह नहा-धोकर नाश्ता किया और सीधी मेज़ पर बैठ गई।

सबसे पहले चुन-चुनकर शीर्षक लिखा। उसके नीचे अपना नाम। उसे देखती रही। फिर तीन लाइन छोड़कर लिखना शुरू किया। कुछ लाइनें लिखने के बाद लगा, बात कुछ जमी नहीं। कागज़ फाड़कर फेंक दिया।

फिर शुरू किया। करती गई। बात नहीं बनी।

किसी भी समय देव के टपकने का खटका बना रहा। रविवार को किसी भी शर्त पर वह मानने वाला नहीं था। कुछ घंटे मुझे उसके साथ बिताने ही थे, वरना इतने दिनों के टालमटोल का जवाब मुझे देना पड़ता। और

"क्यों कहूं ! आप जानना चाहते हैं तो कीजिए कोशिश।"

"ज़िंदगी का तथ्य निकालने की कोशिश कभी की है आपने ?"

"नहीं।"

"फिर तो ये बातें संस्कार की ही हो सकती हैं या प्रकृति की ओर से 'गिफ्ट' में मिली होंगी।"

"यह रिसर्च तो आप ही कीजिए।" मेरे होंठों पर हलकी-सी मुस्कराहट तैर गई थी।

"देखिए, आज पूरी शाम में पहली बार मुस्कराई हैं आप।"

"मेरी मुस्कराहट का इंतज़ार था आपको, मालूम होता तो मिलते ही मुस्कराई होती।"

"इंतज़ार की क्या बात है ! हर आदमी को खुश रहना चाहिए।"

"आपको तो कोई प्रचारक होना चाहिए।"

"मैं तो निहायत खामोश रहने वाला आदमी हूं। प्रचारक की हैसियत से मुझे मानेगा कौन ?"

"प्रयोग करके देखिए।"

"प्रयोग तो विज्ञान में ही होना चाहिए। एक सफल नहीं हुआ तो दूसरे फॉर्मूले तैयार मिलते हैं।"

"विज्ञान के प्रयोग से ज़्यादा ज़रूरी ज़िंदगी के प्रयोग होते हैं।"

"ज़िंदगी के प्रयोग खतरनाक हो सकते हैं।"

"किए हैं आपने ?"

"किए तो नहीं हैं।"

"फिर आप कैसे कह सकते हैं ?"

"अंदाज़ा है मेरा।"

"वैज्ञानिक दृष्टि में अंदाज़े की बात नहीं आती।"

"आती है।"

"कैसे ?"

"मान लीजिए, जिंदगी का एक प्रयोग असफल रहा। दूसरे के लिए फॉर्मूले कहां से आएंगे ?"

"खुद बनाइए।"

"इतनी योग्यता अगर किसीमें न हो ?"

"तो वह दूसरों की सलाह ले।"

"और दूसरो की कही हुई जिंदगी जिए ?"

"इसमें क्या हर्ज है ?"

"मुझे नही मालूम।"

"फिर आप प्रयोग में क्यो कतराते हैं ?"

"इसलिए कि मेरा प्रयोग अगर असफल रहा तो उसके बाद एकदम विनाश होगा।"

सत्यजित गंभीर हो गया।

मैं आतंकित आंखों से उसे देखती रही।

सातवीं या आठवीं बार फिर से लिखना शुरू किया। अधलिखे और रद्द किए कागज मैं बिस्तर पर फेंकती गई। उनपर निगाह पड़ती तो हाथ कांप जाता। सिर चकराने लगता।

इस बार मैंने शीर्षक या नाम कुछ भी नही डाला। पागलों की तरह बेतहाशा लिखती गई।

अपने हाथ के लिखे पंद्रहवें पेज पर जब मैंने समाप्ति की लाइन खींची तो कॉलबेल बज उठी।

मालूम था, देव होगा।

हड़बड़ाकर उठी और बिस्तर पर फैले हुए रद्दी कागज समेटने लगी।

"हलो, रीना स्वीट !" देव दरवाज़े पर खड़ा था।

सारे कागज मेरी बांहों मे सिमटे थे। मेरी फटी-फटी आंखें देव के चेहरे पर टिकी थी। सर तेजी से घूम रहा था।

६

देव मुझे उस हालत मे देखकर डर गया। सारे कागज मेरे हाथ से लेकर देखे और रद्दी की टोकरी मे डाल दिए। मुझे सहारा देकर उसने

बिस्तर पर लिटा दिया।

"इतनी मेहनत करके क्या होगा?" उसकी आवाज़ तेज़ थी, फि उसने आया पर सवालों की बौछार शुरू कर दी : कल रात मैं कितने ब सोई, खाना ठीक से खाया या नहीं, कितने बजे लौटकर आई, सुबह क उठी···नाश्ता-खाना जैसे न जाने कितने सवाल···

मेरा सिर दर्द से फटा जा रहा था। देव जाकर मेरी दवा लाया। रा का खाना उसने सामने बिठाकर खिलाया। दवा दी और जब मैं सोने लिए बिस्तर पर लेट गई तो वह कुर्सी खिसकाकर बगल में बैठ गया।

रात-भर मैं सिरदर्द से छटपटाती रही। रात-भर देव मेरे पास बैठ रहा। दूसरे दिन उसने मुझे ऑफिस नहीं जाने दिया। खुद भी आधे दि के बाद लौट आया। दिन-भर मैं झपकियों में सोई। देव के आने के बा भी दो बार मुझे झपकी आई। देव लगातार बैठा रहा।

"मैं ठीक तो हूं। कुछ देर आराम कर लो।" मैंने कई बार कह लेकिन देव ने मेरी बात पर ध्यान नहीं दिया।

दूसरी रात देव को ज़िद करके मैंने घर भेजना चाहा।

"मेरा लेख लेते जाओ, कल अपने यहां से टाइप करवाकर ला देना। देव चलने लगा तो मैंने कहा।

"इसका मतलब, कल सुबह भी आने की मनाही है?" देव को मे बात बुरी लगी।

"किसने मना किया?" मैंने पूछा।

"लेख लेता जाऊं, ताकि कल सुबह तुम्हें आकर बोर न करूं? री डियर, इतना इशारा समझने के लिए भी तुम्हें मेरी अक्ल मोटी माल पड़ती है?"

"मुझे गलत समझ रहे हो देव!"

"वह तो तुम हमेशा से कह रही हो और शायद आगे भी कह रहोगी···"

देव की बात से मैं तिलमिला गई। उसकी बातों का असर मुझप कुछ ज़्यादा ही पड़ने लगा था। मैंने उसे बिठा लिया। पिछली रात कि तरह जागकर उसने बिताई थी! मैं उसका दिल दुखाना नहीं चाह

थी। "अगर तुम नही जाना चाहते तो मत जाओ, लेकिन एक वायदा करना होगा, कि रात-भर मेरे पास बैठोगे नही।"

"तुम्हारे सोते ही मैं भी जाकर सो जाऊंगा।"

"यह कोई शर्त नही है। दिन-भर मैं आराम करती रही हूं, न जाने कितने घंटे सोई भी हू, तुम कल रात मे जाग रहे हो।"

देव मेरी बात मान गया। दूसरे दिन भी उसने मुझे ऑफिस नहीं जाने दिया। अगले तीन दिन की छुट्टी की अर्ज़ी पर मेरे दस्तखत करवा-कर वह मेरे ऑफिस दे आया। मैंने कोई आपत्ति नही की। काम के प्रति मेरी अरुचि बढ़ती जा रही थी। तबीयत भी कुछ ठीक नही थी, और सबसे बड़ी बात थी कि इस बीच सत्यजित से मुलाकात नही होनी थी, और उसका टेलिफोन भला कब-कब आता था मेरे पास!

देव की सिफारिश मे मां के कई पत्र आ चुके थे। देव के माता-पिता भी आकर एक बार मुझसे मिल गए थे। सबको टालने की बात कोई आसान नही थी, लेकिन मेरे पास कोई चारा नही था। सत्यजित ने साफ शब्दों में मुझसे कुछ न कहा हो, अपनी ओर से मिलने कभी न आया हो, लेकिन मेरे प्रति कोई लगाव उसके मन में न हो, ऐसी बात नही थी। अपनी बात अपने ढंग से कहने या अपनी भावनाओं को अपने तक सीमित रखने का अंदाज़ उसका अपना था। मैं समझती थी। यह बात और थी कि कभी-कभी मेरा मन उन बातों को अपने ढंग से सुनना या महसूस करना चाहता था।

पहली बार उसका हाथ अपने हाथ में लेने या अपना हाथ उसके हाथ मे देने के बाद मुझे लगा था, मेरे और सत्यजित के बीच का परायापन दूर हो जाएगा। नजदीकी कुछ और बढ़ेगी। शायद हम एक-दूसरे के सामने खुलकर आ सकें।

लेकिन ऐसा कुछ नहीं हुआ।

अगली दो मुलाकातों में फिर वही परायापन। फिर वही दूरी।

सत्यजित के साथ कोई रिश्ता कायम करना या उसे निभाने जाने की बात अपने में बहुत-बहुत म्हत्ती थी। कम से कम मुझे इस समय यही

लगा था।

अपने और उसके बीच की दूरी तलवार की वह धार लगती रही, जिसपर चलने के अलावा मेरे पास कोई दूसरा रास्ता नहीं था।

तीसरी बार जब उससे मिली तो मुझसे रहा नहीं गया। मैंने अपनी एक उंगली उसकी हथेली के पिछले हिस्से पर रख दी।

उसने मेरी ओर देखा, मुस्कराया। धीरे से मेरा हाथ अपनी दोनों हथेलियों में लेकर दबा दिया।

"आप समझते हैं, मुझे इसकी ज़रूरत है ?" मैंने अपना हाथ वैसे ही पड़ा रहने दिया।

"नहीं।"

"फिर ?"

"हर बात का जबाब देना जरूरी है ?"

"अगर न हो तो सवाल पूछे ही क्यों जाएं ?"

"कुछ लोगों की सवाल पूछने की आदत होती है।"

"और मैं उन्हींमें से एक हूं ?"

"खुद से पूछिए।"

"अपने को बचाने का बेहतर उपाय। जिस सवाल का जबाब न देना हो, उसके सामने एक दूसरा सवाल खड़ा कर दिया जाए। या फिर वही सवाल पलटकर पूछ लिया जाए।"

"यह ज़्यादती है आपकी।"

"अपने को बचाने का दूसरा उपाय। इलज़ाम दूसरों पर रख दीजिए।"

"तो आप गिनती जा रही हैं ?"

"गिनती नहीं जा रही हूं, खाता तैयार कर रही हूं। समय और मौके ने साथ दिया तो एक-एक का हिसाब पूछूंगी।"

"और बदला लेंगी ?"

"बिलकुल लूंगी। सज़ा भी मिलेगी।"

सत्यजित अनमना हो गया।

"आपको अंदाजा है, आजकल मैं कितनी परेशान रहती हूं ?" थोड़ी

देर बाद मैं खुद ही बोली।

'कुछ-कुछ।"

"दूसरों की परेशानियां हमेशा कम करके देखी जाती हैं।"

"या अपनी परेशानियां ज्यादा करके?"

सत्यजित अगर किसी बात को मानना न चाहे तो उसे मनवाया नहीं जा सकता। बर्दाश्त करने का न जाने कितना माद्दा है उसमें, ऊपरी आक्षेपों को सहते रहने का न जाने कितना धैर्य है उसमें। और सबसे बड़ी बात, मुश्किल से मुश्किल समस्याएं भी उसके चेहरे पर शिकन पैदा नहीं कर सकतीं। मुस्कराते हुए एक-आध शब्दों में कुछ कह जाएगा। समस्याएं समाधान पा लेंगी और बात करने वाला अवाक् उसे देखता रहेगा।

कितनी बार सोचा, ऐसी बात कहूं जिससे सत्यजित घबरा जाए, उसके मन में डर पैदा हो। या फिर ऐसा कुछ हो कि गुस्से से उसका चेहरा लाल हो जाए, कभी वह जोश में आकर कुछ कह बैठे या तिलमिला जाए; लेकिन लगता है, घबराहट, भय, गुस्सा, जोश—ये सब उसके खिलौने हैं और सबको उसने इस तरह से पटाया है कि कोई उसकी मर्जी के खिलाफ नहीं जा सकता।

मन न जाने कितनी कशमकश में था। अजीब दौर से गुजर रही थी मैं। मेरा एक शब्द देव की जिंदगी में खुशियां बिखेर सकता था। मेरी जिंदगी को एक सहज राह दे सकता था, जहां सब कुछ निश्चित था; लेकिन मेरा मन वही एक शब्द सत्यजित से पाने के लिए मचल रहा था, जहां सब कुछ अनिश्चित था। एक राह थी, जिसका कोई अंत नहीं था···जिसकी कोई सीमा नहीं थी। एक परायापन था, जो हर कदम पर जिगर के टुकड़े कर सकता था···सत्यजित के साथ जिंदगी आसान नहीं थी, लेकिन उसमें सुकून था, आत्मविश्वास था, रोशनी की अनगिनत किरणें थीं, जो अपनी चंचलता में मुझे दूर-दूर तक वहा सकती थीं। न जाने क्यों मुझे लगता था, सत्यजित को पा लेना खुद को पा लेना होगा, देव के साथ मैं सिर्फ पत्नी बनकर रह जाऊंगी।

दूसरी ओर दिमाग की बगावत थी। 'शिकन' के बाद अपनी लेखनी

पर शक करना खुद पर शक करना था। तीसरा उपन्यास अच्छा नहीं था, न सही, कुछ तो लिखा ही था। उसके बाद मेरे लेख थे, जो इधर-उधर छप चुके थे, मुझे शोहरत मिली थी, मेरा नाम लोगों को याद रहने लगा था। और इतना सब करने के बाद मुझे क्या होता जा रहा था ? एक लेख लिखने में मेरी जान निकल गई थी। 'राष्ट्रवाणी', जिसके खरीददार चार लाख से भी ऊपर थे, जिसमें कुछ छपना अपने में एक योग्यता मानी जाती थी। क्या किया मैंने उस 'राष्ट्रवाणी' के साथ ?

देव ने लेख टाइप करवाकर दे दिया तो मैं टाइप की गलतियां देखने बैठी। दो पन्ने पढ़ते-पढ़ते मेरा सिर भन्नाने लगा। जैसे-तैसे पढ़ती रही। आखिरी पन्ना पढ़ते-पढ़ते मैंने अपना सिर पीट लिया।

क्या लिखा था मैंने ? मेरे मन की द्विविधा क्या थी ? सत्यजित ? देव ? अमित ? मैं ? चक्रवात ? शिकन ? कुछ भी पता नहीं चला। दिमाग की नसें तन गईं। अजीब उन्माद की हालत हो गई। मैंने लेख के टुकड़े-टुकड़े कर दिए। कोई टुकड़ा कहीं नज़र न आ जाए, इसलिए बाथ-रूम जाकर मैंने सब कुछ सिंक में बहा दिया।

न जाने उस टाइपिस्ट ने क्या सोचा हो ?

और अगर कहीं देव ने पढ़ लिया हो ?...

पल-भर के लिए आया की उपस्थिति का एहसास जाता रहा।

जब वह मेरे पास आकर खड़ी हो गई तो मैं चौंक पड़ी :

"मुझे घर भेज दो, मेरा मन नहीं लगता।" वह कह रही थी। मैं आंखें फाड़े उसका मुंह देखती रही। आया को मां का दर्जा देने पर मुझे पहली बार अफसोस हुआ।

"फिर बात करेंगे।" मैंने ऐसे कहा, जैसे कमरे से चले जाने का आदेश दे रही हूं।

आया ने अजीब आंखों से मुझे देखा। उनमें शायद पहली बार मेरे लिए प्यार नहीं था। मैंने कोई ध्यान नहीं दिया।

आया का चला जाना मेरे लिए एकदम निराधार हो जाने जैसी बात थी। मुझे उसकी ज़रूरत थी। सत्यजित, देव या खुद मुझे अपने से भय था। मेरी रक्षा के लिए आया का वहां होना बेहद ज़रूरी था।

ज़िन्दगी को खिलौना मानकर खेलते जाना मैंने कभी पसंद नहीं किया। आया थी तो एक लिहाज़ था, दबाव था। वह मेरी मा थी, जिसको मेरे भले-बुरे की चिंता थी। उसके जाने पर मेरा बागी मन क्या कर बैठे, मुझे भरोसा नहीं था।

उसी रात मैंने उसे बुलाया : "मुझसे नाराज हो आया ?" भरसक नरम आवाज़ मे मैंने पूछा था।

"नाराज़ी की बात नही है बिटिया ! वहां माजी अकेली है। तुम्हारा घर यहां जमा दिया है। और अब तो देव बाबू है।"

उस समय भी मुझे लगा था, मुझे और देव को एकात देने की गरज़ से ही आया खिसकने की बात सोच रही थी। काश, मैं उसे समझा पाती कि दुनिया के सारे देव भी आकर अगर खड़े हो जाएं तो रीना की आखें सत्यजित की तलाश मे ही भटकती रहेंगी।

"मुझे छोड़कर चली जाओगी तो मा बुरा नही मानेंगी ?" कुछ और नही सूझा तो मैंने यही पूछा।

"उन्हें मैं समझा लूंगी।"

"इतनी ऊब गई हो ?"

"तुम तो लगातार अपने काम मे लगी रहती हो। लिखना-फाड़ना, लिखना-फाड़ना। अपनी समझ मे कुछ नही आता। दिन-भर भूत की तरह बैठी रहती हूं।" उसने शिकायती नज़रों से मुझे देखा था।

कोई और मौका होता तो मैं आया के गले से लिपट गई होती। बात की बात मे उसे खुश कर लिया होता। उस रात सिर्फ इतना ही कह पाई :

"मा को लिखूंगी। अगर वह 'हा' कह देंगी तो भेज दूंगी।"

आया चली गई। मेरी टकटकी छत की ओर बंधी रही।

मेरी कलम मेरा साथ छोड़ गई थी। मेरी हिम्मत मुझे जवाब दे चुकी थी। 'राष्ट्रवाणी' के संपादक का टेलिफोन आया तो मुझे कहना पड़ा :

"बीमार रही हूं। लेख न भेजने का अफसोस है मुझे।"

उन्होंने कहा, अगले दो-चार दिनों में भी लिख दूं तो काम चल जाएगा। एक बार कमज़ोरी आई, हां कर दूं, लेकिन मन ने कमज़ोरी पर विजय पा ली। मैंने उन्हें मना कर दिया।

जिस दिन 'राष्ट्रवाणी' के संपादक से बात हुई, उस रात महीनों बाद अमित का ख़याल आया।

सत्यजित के नज़दीक आने के बाद मैं अमित को लगभग भूल गई थी। देव के आने पर पुरानी यादें ताज़ी हुईं, लेकिन मेरे लिए परेशानी का कारण नहीं बनी थीं।

उस रात अचानक उसकी आकृति आंखों के सामने उभरने लगी तो मुझे बेचैनी हुई।

अमित, जिसके साथ मैंने तब तक की ज़िंदगी के मधुरतम क्षण बिताए थे; जिसके साथ एक भविष्य का सपना देखा था; जिसने दुनिया की तमाम खुशियां मेरे आंचल में भर देने का वायदा किया था; वह अमित, मेरा अपना अमित मेरे लिए अब 'चक्रवात' का लेखक था। इससे मेरा कोई परिचय, कोई संबंध नहीं था। एक प्रतिद्वंद्वी की तरह वह मेरे सामने खड़ा था :

"लेखक बनने का मंत्र चाहिए ? मेरे पास आओ।" वह मेरी हालत पर मुस्करा रहा था।···

" देव तुम्हें खत्म कर देगा।

" सत्यजित के साथ तुम चल नहीं पाओगी।

" तुम्हारे लिए सिर्फ अमित था। उसे छोड़कर तुम परेशान हो जाओगी। रीना और अमित, अमित और रीना। दोनों एक-दूसरे के लिए बने थे।

" सब कुछ से निजात पाने का एक रास्ता है। आओ···मेरे पास आओ···।"

मैं हड़बड़ाकर उठ बैठी। कमरे में बाकायदा रोशनी जल रही थी। कहीं कुछ नहीं था। मैंने एक गिलास पानी पिया और तकिये पर सिर रखकर दुबारा लेटी।

'चक्रवात' की लेखिका रीना सरकार।

'चक्रवात' की नकल 'शिकन' की जन्मदात्री रीना सरकार।

एक अदना-सा लेख नहीं लिख पाई आप ?

नाम···शोहरत···सशक्त अभिव्यक्ति···

किसी···कहां तक···कितने दिन···

मुझे लगा, मैं चीख पड़ूंगी।

पिछले कुछ दिनों से नींद की गोलियां अकसर खाने लगी थी।

फिर उठी। सिरहाने से सिक्विल की दो गोलियां पानी के सहारे गले के नीचे उतारीं। बत्ती जलती छोड़ दी।

मन बेकाबू होता गया। देव सुबह-शाम आता रहा। आया को मैंने कुछ दिनों के लिए राज़ी कर लिया। शनिवार को सत्यजित से मुलाकात बराबर होती रही। उसके व्यवहार में कोई अन्तर नहीं आया। उसके इतने नज़दीक ख़ुद को महसूस करते हुए भी मैं उसकी खींची हुई लक्ष्मण-रेखा पार नहीं कर पाई। मुझे सत्यजित पर इतना भरोसा कभी नहीं हुआ कि अगर मैंने उसके मन के खिलाफ कुछ कर दिया तो वह उसे स्वीकार कर लेगा या स्वीकार नहीं कर पाया तो मुझे माफ कर देगा; बल्कि मैं हमेशा डरती रही कि कहीं कुछ ऐसा न हो जाए कि सत्यजित को हमेशा के लिए खो बैठूं···अब सोचती हूं, मेरी इसी मनःस्थिति ने मेरा सबसे बड़ा नुकसान किया।

मन की शांति जाती रही। नींद खत्म हो गई। देव कहता, नींद की गोलियां ज्यादा न खाऊं। मुझे लगता, अगर गोलियां न खाऊं तो घंटे-दो घंटे का आराम भी दूभर हो जाएगा और सत्यजित इन सबसे बेखबर अपनी रफ्तार पर अपनी ज़िंदगी जीता रहा। मुझे शिकायत का मौका उसने कभी नहीं दिया और जहां तक हो सका, अपनी परेशानियों में घसीटना मैंने बेहतर नहीं समझा।

"पहले जैसे मूड में इधर काफी दिनों से आप नहीं आई हैं ?" एक दिन उसने कहा था।

"मन ही तो है, कभी बदल भी सकता है।" मैंने लापरवाही दिखाने की गरज़ से कुछ उसीके अंदाज़ में जवाब दिया।

"लगता है, आप ज़्यादा सोचने लगी हैं।" कुछ दिन बाद उसने फिर कहा।

"दिमाग का काम है सोचना और मेरे पास एक दिमाग है।" मेरा छोटा-सा जवाब था···

"आजकल आपकी सेहत कुछ ठीक नहीं मालूम पड़ती।" यह बात सत्यजित के मुंह से निकलने वाली नहीं लगी। मैंने उसे गौर से देखा था, लेकिन उसके चेहरे का भाव क्या मैं पढ़ सकती थी?

"काम कुछ ज़्यादा करना पड़ा है।" मैं सरासर झूठ बोली।

देव मुझे लेकर यहां-वहां घूमता रहा। अपने कई डॉक्टर मित्रों से मिला। तरह-तरह की गोलियां, अनेक टॉनिक, अलग-अलग आकार की शीशियां मेरे कमरे की अलमारियों में भरती गईं। देव की चिट्ठी पाकर मां मुझे देखने आईं। लिखना-पढ़ना बंद हो गया। जैसे-तैसे ऑफिस जाती रही। मां ने छुट्टी लेकर इलाहाबाद चलने को कहा। बड़ी मुश्किल से मैं उन्हें मना पाई।

उस दिन सत्यजित का जन्मदिन था। कितनी मुश्किलों से पता चल पाई थी यह बात। मां के साथ मैं उसके घर गई।

मां को मैंने सत्यजित के बारे में इतना ही बताया था कि वह अमित का दोस्त है। कभी-कभी मुलाकात हो जाती है।

सत्यजित घर पर अकेला था। मैं जानती हूं, नौकर को उसने जान-बूझकर छुट्टी दे दी होगी। अकेलापन उसे अच्छा लगता था।

शेक्सपियर का पूरा सेट उसके सामने रखते हुए मैंने कहा था:

"आपकी साइंस और टेक्नोलॉजी के बीच मेरा खयाल है, ये किताबें बुरी नहीं लगेंगी।"

शुक्रिया अदा करते हुए उसने खुद कॉफी बनाकर हमें पिलाई थी। मां को उसके अकेलेपन पर ताज्जुब हुआ था:

"आज आपका जन्मदिन है और आप अकेले बैठे हैं?" उन्होंने कहा था।

"यहां जान-पहचान नहीं है। अभी हाल ही में बंबई से आया हूं।" उसने कैफियत देकर छुटकारा पाना चाहा था।

"इस उम्र में वैराग ठीक नहीं बेटा!" मां को उससे सहानुभूति हुई थी।

सत्यजित ने मां को कोई जवाब नहीं दिया। उस दिन वह कुछ ज्यादा ही खामोश था। अजीब हालत थी। एक घंटा उसके घर भर बिताना बरसों की तरह लगा। रात के खाने पर उसे बुलाने के लिए मां को खासी खुशामद करनी पड़ी।

सत्यजित किसीको दुखी नहीं कर सकता। उसने मां की बात मान ली थी।

हम तीनों साथ लौटे तो घर पर देव जमा हुआ था। मां ने देव से सत्यजित का परिचय करवाया :

"अमित के पुराने दोस्त हैं।"

सत्यजित ने देव का हाथ अपने दोनों हाथों में थाम लिया। दुबारा अपना परिचय एक-दूसरे को देते हुए दोनों सोफे पर पास-पास बैठ गए।

अमित का दोस्त होने के नाते, या सत्यजित की अपनी शख्सियत से प्रभावित देव उस दिन बहुत बोला। विद्यार्थी जीवन से लेकर अमरीका से लौटने तक की बातें उसने अलग-अलग संदर्भों में कई तरह से बताईं। सत्यजित बड़े ध्यान से सुनता रहा।

मेरे लिए सब कुछ बर्दाश्त करना मुश्किल हो रहा था। किसी तरह खाना खत्म हुआ तो कॉफी पी गई। फिर सत्यजित उठ खड़ा हुआ :

"अब इजाजत चाहूंगा।"

देव उसे छोड़ने जाने के लिए खड़ा हो गया। सत्यजित ने बड़े आग्रह से उसे मना कर दिया।

जब वह चला गया तो देव मेरी ओर मुखातिब हुआ :

"तुमने कभी बताया नहीं इनके बारे में?" उसकी आवाज सहज नहीं थी।

"बताने की इसमें क्या बात थी?" मेरे बोलने से पहले ही मां बोल पड़ीं। शायद वह मेरे मन का तनाव भाप गई थीं।

देव चुप हो गया।

थोड़ी देर तक इधर-उधर की बातें होती रहीं। एक बार फिर कॉफी पी गई। फिर देव चला गया।

रात में सोने से पहले मां मेरे बचपन की बहुत-सी बातें याद करती रहीं। फिर उन्हें अमित का खयाल आया। अमित से संबंधित उनकी बातचीत में मैं कोई हिस्सा नहीं ले पाई।

"देव के बारे में तूने सोचा कुछ ?" अचानक वह एक बिलकुल नया सवाल पूछ बैठीं।

"जल्दी क्या है मां ?"

"मुझे कोई जल्दी नहीं। देव के माता-पिता अकसर आ जाते हैं।"

मैं चुप रही।

"लेकिन तुझे परेशान होने की ज़रूरत नहीं।" वे ही फिर बोलीं: "जब तक मैं ज़िंदा हूं।" ज़रा रुककर उन्होंने बात पूरी की।

मैंने मां की ओर देखा। मेरी आंखें भर आई थीं। न जाने क्या सोचकर मां मेरे बिस्तर पर आ गईं।

कोशिश करने पर भी आंसू रुके नहीं। मां की आंखें भी गीली ज़रूर हुई होंगी। मैं उनकी बांहों में पड़ी थी। मेरा सिर उनके सीने में छिपा था। आंखें बरस रही थीं।

"मां की ममता छिन जाए। बाप का साया किसीके सिर से न उठे।" उन्होंने कई बार दोहराया था। उनके हाथ न जाने कब तक मेरा सिर सहलाते रहे थे।...

७

मां के आने से मुझे राहत मिली थी। काफी परेशानियां तितर-बितर हो गईं। नियम से ऑफिस जाना, घर आना शुरू हो गया। देव से मुलाकातें घर पर ही होतीं। कभी कहीं घूमने गए तो मां को वह ज़िद करके ले जाता रहा। दिल्ली की खास-खास जगहें उसने अकेले मां को दिखाईं। आया मां के साथ बराबर बनी रही। शनिवार की शामें

सत्यजित के साथ बाकायदा गुजरती रही, लेकिन समय की पाबंदी थी।

चली गई तो एक बार फिर सब कुछ वीरान लगने लगा। काश, पापा का 'सुदर्शन विला' छोड़कर मां मेरे साथ ही रही होती···

जाते समय उन्होंने सख्त हिदायत दी थी :

"लिखना-लिखाना कुछ दिन बिलकुल बंद कर दो।"

प्रकाशक का तकाज़ा बढ़ रहा था। कई बार मन में आया, कह दूं : 'लिखना मेरे वश का नहीं। मुझे माफ कीजिए।'

लेकिन किस मुंह से कहूं! जो मुखौटा न चाहते हुए भी मुझपर जड़ गया था, उसे उतारने की हिम्मत मुझमें कहां थी? अगर यह सारा वजन मैं किसी तरह उतार सकती तो कम से कम खुद को देखने का, एक सही रोशनी में पहचानने का मौका मुझे मिला होता। काश, ये सारी बातें मैं सत्यजित को ही बता पाई होती! लेकिन सत्यजित क्या मेरी मदद के लिए आगे बढ़ता? ···आगे बढ़ता भी तो किन शर्तों पर? क्या वे शर्तें मुझे मंजूर होतीं? ···

और तब क्या रीना का वही महत्त्व होता? ···

देव, जो अमरीका से लौटकर मेरे पीछे पागल हो रहा था; सत्यजित, जो देखकर भी मुझे अदेखा कर रहा था।···क्या ये दोनों मुझे इसी नज़र से देखते?

अगर नहीं, तो यह बात कैसे बताई जा सकती थी? यह मुखौटा कैसे उतारा जा सकता था?

और तब, मन का संघर्ष एक बार फिर से मुझे जकड़कर अशक्त कर दे, इससे पहले मैंने सत्यजित से बात करने का फ़ैसला किया।

क्या बात करूंगी, यह स्पष्ट नहीं था। इतनी आसानी से 'चक्रवात' के मूल लेखक की बात बताकर बना-बनाया खेल बिगाड़ने के लिए मैं तैयार नहीं थी; लेकिन उस बात की भूमिका तैयार करने जैसी ही कोई बात थी, जब मैंने शनिवार से पहले ही सत्यजित से मिलने की बात उस-पर जाहिर की।

इस तरह की बातों या मुलाकातों के जवाब में सत्यजित ने मुझे कभी

निराश नहीं किया।

उन दिनों ऑफिस के वाद मैं सीधी घर आ जाती थी। देव ने ऑफिस पहुंचना बंद कर दिया था। उससे मेरी मुलाकात घर पर ही होती। उसके वाद अगर कहीं जाना होता तो हम जाते थे।

उस शाम सत्यजित से मिली तो उसने धीरे से मेरा हाथ अपने हाथ में ले लिया :

"वताइए, क्या वात है?"

"कुछ खास नहीं, यूंही मिलने का मन था।"

मेरा हाथ अपने हाथ में लिए वह कुछ सोचता रहा, फिर पूछा, वही हमेशा का सवाल :

"कैसी हैं?"

"ठीक हूं।"

फिर खामोशी…

इस तरह की खामोशी मेरे-उसके वीच कोई नई वात नहीं थी। इधर हफ्तों से अकसर हम चुपचाप वैठे रहते थे। घंटों किसीसे कोई कुछ न कहता। सत्यजित आदतन कम वोलता या चुप रहता, लेकिन मेरा खामोश रहना उसे भी अजीव लगने लगा होगा।

"कुछ तो वोलिए।" पहले भी कई वार वह पूछ चुका था।

"लगता है, सारी वातें खत्म हो गई हैं।" मैंने कहा।

"या फिर से शुरू होने की तैयारी में हैं।"

"भविष्य पर भरोसा है आपको?"

"भरोसे के सहारे तो दुनिया चल रही है।"

"यह मानने वालों में आप भी हैं?"

"मुझमें कोई खास वात है क्या?"

मेरी असहाय आंखें उसके हाथों पर टिकी रहीं। मैंने कोई जवाव नहीं दिया था।

"क्या सोचने लगीं?" उसने पूछा तो मैं चौंक पड़ी।

मैं उसकी ओर देखना चाहती थी, लेकिन मेरी आंखें गीली थीं। अगर निगाह ऊपर उठती तो आंसू फिसल जाते। मैं वैसे ही वैठी रही।

"कहां हैं आप ?" उसने मेरा हाथ थपथपाया।

"यहीं हूं।" मेरी आंखें झुक गईं।

"इधर देखिए।" उसकी आवाज़ में एक आदेश था।

दो बड़ी-बड़ी बूंदें नीचे आ गईं।

सत्यजित ने फिर कुछ नहीं कहा। बड़ी देर तक हम बैठे रहे। अपने पर काबू पा लेने के बाद मैंने उसकी ओर देखा :

"कहिए, क्या कह रहे थे ?"

"समाधि खत्म हो गई आपकी ?" माहौल को कुछ हलका बनाने की गरज़ से उसने पूछा।

"वरना बोलती कैसे ?" मैंने उसका साथ दिया।

"तो बताइए, किस समाधि में डूबी थीं आप ?"

"मुझे यह मेज़ बहुत पसन्द है। मैं इसे अपने पास रखना चाहती हूं।" सामने की मेज़ की ओर इशारा करते हुए मैंने कहा।

"मैनेजर से बात करके खरीद लीजिए।"

"अगर वह देने के लिए तैयार न हो ?"

"तो ऑर्डर देकर इसी तरह की दूसरी मेज़ बनवा लीजिए।"

"तो कुछ ज्यादा खर्च करना पड़ेगा।"

"क्यों ?"

"मेज़ के साथ-साथ अपनी चाहत का दाम भी तो देना होगा।"

"आपका मतलब, अगर कीमत अदा की जा सके तो कुछ भी खरीदा जा सकता है ?"

"ज़ाहिर है।"

"ठीक कहते हैं आप।' मैं गंभीर हो गई : "कीमत अदा करना जरूरी है।"

"आज मालूम पड़ रहा है, आपने दर्शनशास्त्र में एम० ए० किया है।"

"वैसे क्या लगता था ?" ज़रा देर के लिए अपनी सारी उलझनें भूलकर मैं चुहल में आ गई।

"बहुत कुछ लगता था।"

"मसलन ?"

"सारी बात आज ही सुनेंगी ! एक दिन के लिए एक बात काफी है।"

"टेलिपैथी पर विश्वास है आपका ?" उसीने पूछा।

"थोड़ा-थोड़ा।" बातों का कोई सिलसिला मैं नहीं जोड़ पाई।

"मैं बताऊं, आप किस समाधि में डूबी थीं ?"

मैं कांप गई। सत्यजित क्या वही कहता, जो मैं सोच रही थी ?...

सत्यजित के लिए कुछ भी संभव था। कम से कम मैं उसके बारे में यही सोचती थी। बात बदलने की गरज़ से मैं झटपट बोली :

"दो साल तक संन्यास आप लिए रहे, समाधि में मैं डूबी थी ?"

"वह तो बरसों पुरानी बात है। आपकी समाधि तो अभी-अभी खत्म हुई है।"

"मैं थक गई हूं आज।" अचानक मेरे मुंह से निकल पड़ा।

"चलिए, घर चलें।" उसने वेटर को इशारा किया।

"मैंने घर चलने के लिए तो नहीं कहा !"

"आप थक गई हैं, घर चलकर आराम कीजिए।" उसने सहज ढंग से कहा।

"आपका आदेश है ?"

"अगर आप मानें।"

"और अगर घर जाकर आराम न मिले ?"

"जिस बात से आराम मिले, वही कीजिए।"

"और अगर किसी बात से आराम न मिले ?"

"तो फिर बैठी रहिए।"...

मतलब था, इस तरह की अनावश्यक बातों के लिए उसके पास वक्त नहीं था।

मन की सारी बातें धरी रह गईं। जिस बात की भूमिका तैयार करने के लिए मैं उससे मिली थी, बात वहां तक पहुंची ही नहीं। लगा, जिस जंजाल में मैं फंस गई थी, उसे पार करने में मुझे कहीं से कोई मदद नहीं मिलेगी। अकेले ही मुझे सब कुछ भोगना और सहना होगा। अकेले ही रास्ते की तलाश करके बाहर निकलना होगा।

अपनी बेसब्री में मैंने उस हफ्ते शनिवार की मुलाकात भी खोई। मैं जानती थी, उस मुलाकात के बाद शनिवार को मिलने की बात सत्यजित एक बार जरूर टालता। चाहते हुए या शायद न चाहते हुए भी। उसे टालने का एक मौका देने की तौहीनी मैं बर्दाश्त करना नहीं चाहती थी।

इस तौहीनी ने लगातार मुझे परेशान रखा है। आज भी समय-समय पर सिर उठाकर यह खड़ी हो जाती है। अपने-पराये सबसे कटकर यहां जो मैं एकांतवास कर रही हूं, अपनी असफलताओं की कहानी लिख रही हूं, इसका जिम्मेदार कौन है?

अगर सत्यजित मेरे लिए इतना जरूरी था तो आज से बहुत पहले मैं अपनी सही तस्वीर उसके सामने क्यों नहीं रख पाई?...

सत्यजित से मिलने के इंतजार में मैंने देव का सहारा क्यों लिया?

एक बार, सिर्फ एक बार मैं मां से क्यों नहीं कह पाई कि मेरी जिंदगी का साझीदार अगर कोई बना तो वह सत्यजित होगा, देव नहीं!

लेकिन कैसे होता यह सब?

सत्यजित कहता है, जिंदगी का एक प्रयोग अगर असफल हुआ तो विनाश होगा। किसका विनाश? कैसा विनाश? जवाब वह कभी नहीं देगा। खुद को प्रयोगों से बचाए रखेगा, क्योंकि फॉर्मूले वह बना नहीं सकता या बनाना नहीं चाहता। दूसरों के बनाए हुए फॉर्मूले उसे मान्य नहीं हैं।...

सत्यजित से कुछ कहने से पहले क्या यही डर मेरे अंदर नहीं था?... बार-बार सोचकर भी मैं इसका सही जवाब नहीं निकाल पाई।

सोचती हूं, अच्छा ही हुआ, सत्यजित को लेकर उपन्यास नहीं लिख पाई, लिखने और लिखने वालों की दुनिया से ही कटकर अलग हो गई। सुबह-शाम की जिंदगी भी एकदम अलग हो गई। न दफ्तर जाने की चिंता, न शाम की वीरानियां। न देव का थोपा हुआ सामीप्य, न सत्यजित से मुश्किल में मिली हुई अनिश्चित घड़ियां...

मन कभी-कभी सोचता है, ऐसे कब तक चलेगा? शायद वह भटकना भी चाहता है, तब मैं टाइगर को साथ लेकर दूर घूमने निकल जाती हूं।

आने-जाने वाले टूरिस्ट मुझे घूरकर देखते हैं···सोचते होंगे, कोई नवाब-जादी है, ऐश कर रही है···मैं सोचती हूं, यही सही। अमित···मेरा सबसे नज़दीकी अमित अब मेरा प्रतिद्वंद्वी बन गया है। देव, पिछली ज़िंदगी पर एक काला-मोटा परदा डालकर मेरे साथ एक नई ज़िंदगी के ख्वाब देख रहा है···शायद अब भी, और सत्यजित ?

सत्यजित के बारे में मैं कुछ खास नहीं सोच पाती। उसे लेकर नई ज़िंदगी का न तो कोई ख्वाब बन पाता है, न मैं उसे अपनी बीती ज़िंदगी से काट देने की ही बात सोच पाती हूं। मेरे सामने हमेशा की तरह अब भी वह एक सवालिया निशान बना हुआ है। एक ऐसा निशान, जिसे कहीं से भी शुरू करूं, इबारत हमेशा गलत निकलती है।

यहां सुबह-शाम की कोई अहमियत नहीं। दिन, हफ्ते, महीने—क्या सारी ज़िंदगी इसी तरह निकल सकती है ? पापा का 'सुदर्शन विला' अपने इकलौते वारिस के लिए बहुत है। मां ने कितनी बार यह बात कही थी मुझसे ! ···

मेरे लगाए हुए जंगली पौधों में फूल आने लगे हैं। अपने ही दरवाज़े पर मैंने इश्कपेचा की एक लता लगा ली है।

आया कहा करती थी : "इश्कपेचा में वशीकरण मंत्र का जादू है। जिसके दरवाज़े पर लगा दो, गुलाम बनकर रहेगा।"

सत्यजित की बेरुखी ने कई बार मन में एक लालसा पैदा की थी। एक बार उसके छोटे-से बगीचे का जायज़ा लेते हुए मैंने इश्कपेचा का महत्त्व उसे समझाया था। वह बड़ी देर तक हंसता रहा था। उसके वैज्ञानिक नज़रिये के सामने मुझे अपनी अंधविश्वासों पर अफसोस हुआ था।

उस शनिवार की मुलाकात की बात पर हम खामोश रहे। सोचा था, बाद में टेलिफोन करूंगी, पूछूंगी, ज़िद करूंगी। मेरी ज़िद सत्यजित टाल नहीं सकता। स्वाभिमान आड़े आया। मैं खामोश रही। दिन-भर उसके टेलिफोन का इन्तज़ार किया और शाम होते-होते उसी पुरानी जगह जाकर बैठ गई।

सत्यजित नहीं आया।

मुझे लगा, इससे ज़्यादा सहने का माद्दा मुझमें नहीं है। अपनी समझ

मैं काफी देर इन्तजार करने के बाद मैं उसके घर पहुंची। नौकर मिला। थोड़ी देर इधर-उधर की बात करने के बाद पता चला, सत्यजित दस बजे से पहले नहीं आएगा। मैं इन्तजार करने लगी।

शर्म का वास्ता देने की गुंजाइश नहीं थी। सत्यजित के लिए मैं कुछ भी कर सकती थी। सोचा था, आएगा तो साफ-साफ कह दूंगी :

'समझते क्यों नहीं कि जिन्दगी को आगे बढ़ाने के लिए तुमसे मेरा मिलना बेहद जरूरी है ?'

या फिर पूछूंगी :

'मेरी अहमियत अगर तुम्हारे लिए इतनी ही है तो मुझे जीने के लिए मजबूर क्यों किया था ?'

लेकिन जब वह आया तो औपचारिक बातों के बाद कॉफी पीने से ज्यादा महत्व की कोई बात सूझी ही नहीं।

मेरे आने पर उसे ताज्जुब नहीं हुआ। उसकी सहजता मुझे अच्छी लगी।

चलने लगी तो जैसे कोई भूली हुई बात याद आई।

"हफ्ते में एक मुलाकात मेरे लिए काफी नहीं है।" मैंने कहा।

"दो हफ्ते में दो मुलाकातें ठीक रहेंगी ?" वह मुस्कराया।

मैंने उसकी ओर देखा। उसकी आंखों में एक खास चमक, उसके चेहरे पर खुशी की आभा थी।

घर तक आते-आते मैंने उसे हफ्ते में दो मुलाकातों के लिए राजी कर लिया था।

देव के लिए मेरे पास समय कम होने लगा।

सत्यजित कभी-कभी कहता :

"इस समय तो मैं लगभग खाली हूं। स्ट्राइक चल रही है। आप रोज़ भी मिल सकती हैं, लेकिन कभी ऐसा भी हो सकता है कि मैं व्यस्त हो जाऊं। कई-कई दिन-हफ्ते मुझे फुर्सत न मिले।"

"तो मैं फुर्सत मिलने का इंतजार करूंगी।"

"कर लेंगी ?"

"वक्त बताएगा।"

"इम्तहान लेकर देखना पड़ेगा।"
"उससे कुछ पता नहीं चलेगा।"
"आप जान जाएंगी ?"
"असली-नकली की पहचान मुझे है।"

सत्यजित ने लिखने की बात पूछना बिलकुल बंद कर दिया था। अपने ऊपर देव की प्रतिक्रिया के बारे में भी उसने कुछ नहीं कहा।

हफ्ते की दो मुलाकातें तीन में बदल जातीं या रोज़ की बन जातीं; लेकिन देव ने ऐसा होने नहीं दिया···

अपने प्रति मेरी उपेक्षा का एहसास तो उसे उसी दिन हो गया था, जिस दिन शादी का प्रस्ताव मैंने टाल दिया था। फिर भी उसे उम्मीद थी, समय के साथ मेरा विचार बदलता जाएगा। उसका सुघड़ व्यवहार, आराम की ज़िंदगी का आकर्षण, बीच की दूरी को पाट देंगे, लेकिन सत्यजित से पहली मुलाकात के बाद शायद वह अपना विश्वास खोता गया था।

मैं मिलने को मना कर देती तो ज़िद नहीं करता। जब तक मेरे पास रहता, खुश रहने की कोशिश करता। फिर भी उसका अनमनापन मैंने महसूस किया था। कभी-कभी मुझे तकलीफ भी हुई थी। देव को दुखी करना नहीं चाहती थी।

मैं क्या करती ? मेरा सब कुछ मेरे हाथ से निकल गया था। देव के लिए मैं अपना बलिदान नहीं कर सकती थी।

सत्यजित पास होता तो चहकती रहती। अकेली होती तो मन मारकर बैठी रहती। देव कभी आ जाता तो इस तरह देखती, जैसे वह मेरे लिए कोई अजनबी हो, या क्यों आ गया, मेरा उससे क्या वास्ता ?

देव ने दुनिया देखी थी। मेरे अंदर का परिवर्तन समझने में उसे ज़्यादा दिन नहीं लगे; लेकिन उसने मुझसे कुछ कहा नहीं। मेरे मन में कई बार आया, मैं ही उसे सब कुछ बता दूं। फिर मैं रुक गई। अपनी ओर से कोई बात क्यों कही जाए ? मेरे ऊपर देव का कोई एहसान नहीं था। पिछली बातों पर मोटा-काला परदा लगाने का जितना अधिकार उसे था, उतना मुझे था उसे नकार देने का। और फिर ऐसे कब तक चलता ? एक न एक दिन तो

वह समय आना ही था।

दिन याद नही कौन-सा था। रात साढे दस का समय रहा होगा।

पर्स हाथ मे घुमाते हुए मैं अपने ड्राइंगरूम मे दाखिल हुई। देव पीछे की खिड़की से बाहर रात के अंधेरे मे कुछ देख रहा था। मेरे आने की आहट उसे मिली होगी, लेकिन वह मुड़ा नही।

रासिल्क के सूट मे पीछे से उसकी आकृति मुझे अच्छी लगी।

"हलो, देव!" पर्स सोफे के सामने वाली मेज़ पर रखते हुए मैंने कहा था।

हाथ की जलती हुई सिगरेट उसने खिडकी से बाहर फेंकी और घूमकर खड़ा हो गया।

"कब आए?" मैंने ही पूछा : "कितनी देर से खड़े हो?"

"तुमसे मिलने से खुद को रोक नही पाया।" उसने मेरे सवालो की ओर ध्यान नही दिया।

शायद जिन्दगी में पहली बार उसने ऐसा किया था।

"आओ, बैठो।" मुझसे उसकी ओर देखा नही गया।

वह सोफे पर मेरे पास न आकर सामने की कुर्सी की ओर बढा।

"खैरियत तो है? कोई खास बात?" उसका तना हुआ चेहरा देखकर सहज बनने की बेकार कोशिश मैंने की।

"इस तरह काम नही चलेगा रीना, बहुत हो चुका।" उसकी आवाज़ तल्ख थी। मुझे लग गया, औपचारिकता से काम नही चलेगा।

"मतलब?" अपनी बात मुझे खुद ही बेमानी लगी।

उस शाम मैं बहुत खुश थी। सत्यजित के साथ न जाने कितनी दूर पैदल चलती गई थी। उसके कहने पर भी मैंने स्कूटर-टैक्सी कुछ नही लिया था। कितना अच्छा लगा था! देव के साथ बहस-मुबाहिसे उस शाम रुक सकते थे।

"तुम्हारा मूड ठीक नही मालूम पडता। कुछ खास बात हो तो बता दो, वरना कल बात करेंगे।" मैंने अपनी बात पूरी की।

"कल तुम्हारे पास समय होगा, इसीका क्या भरोसा है? और इस तरह मैं कब तक इन्तजार करता रहूंगा?"

"बोलो फिर, क्या बात है ?" मजबूर होकर मुझे कहना पड़ा।

"आज शाम कॉफी हाउस में तुम्हारे प्रकाशक से मुलाकात हुई थी। उपन्यास के बारे में परेशान था।"

"अगर तुम्हारे तनाव का कारण यही है तो कल मैं उसे टेलिफोन कर दूंगी। उपन्यास मुझे लिखकर देना है।"

"कुछ अपनापन महसूस करके ही उसने मुझसे कहा होगा ?"

"तो तुम्हीं लिखकर दे दो।" मैं चिढ़ने लगी थी।

"अगर मैं लिख सकता तो शायद वह अब तक छप भी गया होता।" उसने व्यंग्य किया।

मैं ज़रा देर चुप रही। फिर बोली तो आवाज़ संयत थी :

"उपन्यास लिखना कोई खेल नहीं है, देव ! एक उपन्यास लिखकर लोग बरसों के लिए चुक जाते हैं। और फिर मैंने लिखना बन्द तो नहीं कर दिया ?"

"बन्द कर देना ही शायद ठीक होता तुम्हारे लिए।"

"जब मुझे ऐसा लगने लगेगा तो बन्द कर दूंगी।"

"तब तक सबको इसी तरह लटकाए रहोगी ?"

"तुम्हें इसकी चिन्ता अचानक क्यों होने लगी ?"

"अचानक कुछ भी नहीं हुआ है रीना···अचानक कुछ भी नहीं हुआ···।"

"फिर ?"

वह अपलक मेरी ओर देखता रहा। उसकी आंखों में अजहद दर्द था। मुझे तकलीफ हुई। एक ऐसी तकलीफ, जिसके लिए कुछ कर पाना मेरे लिए मुमकिन नहीं था। कोई और दिन रहा होता तो उसका हाथ थामकर मैंने उसे अपने पास बिठा लिया होता। कुछ अच्छी बातें कहकर उसका दर्द बांट लेती···उसे तसल्ली देती। दीन-दुनिया की बात करके उसका जी बहला देती। हंसी-मजाक करती। हो सकता था, उसे लेकर कोई प्रोग्राम बनाती···या इसी तरह का कुछ और करती।

लेकिन उस दिन ऐसा कुछ भी मुमकिन नहीं था···सत्यजित के साथ मेरी शाम बहुत अच्छी गुजरी थी।

"फिर···कुछ नहीं।" वह काफी देर बाद बोला।

"तुम इतने परेशान क्यों हो?"

"पिछले दिनों 'राष्ट्रवाणी' के लिए तुम्हें एक लेख भी तो लिखना था?" उसने मेरी बात या तो सुनी नहीं या उस पर ध्यान नहीं दिया।

"तो?" मुझे गुस्सा आने लगा था। फिर भी समझौते का हाथ मैंने बढ़ाया। बोली: "तुम जानते हो, पिछले दिनों मेरी तबीयत कितनी खराब रही है···तुम आखिर इस तरह तने क्यों हो?"

"जिसकी तबीयत खराब रहती है, वह इतनी-इतनी रात तक घूमता नहीं रहता।" वह तैश में आने लगा।

"अभी यह कहने का अधिकार मैंने नहीं दिया है तुम्हें।"

"जानता हूं रीना! यह भी जानता हूं कि वह अधिकार तुम मुझे नहीं देना चाहती···क्यों नहीं देना चाहती, यह भी बताने की जरूरत नहीं।"

"तुम हद से गुज़र रहे हो देव! मैं···मेरे वक्त की भी एक सीमा हो सकती है···"

"गुस्ताखी के लिए माफी चाहता हूं···मेरे ज़ब्त की सीमा भी अब खत्म हो रही है रीना!"

"जो कहना चाहते हो, साफ-साफ क्यों नहीं कहते?"

वह थोड़ी देर उन्हीं फटी-फटी आंखों से मुझे देखता रहा। उन आंखों में बहुत कुछ था—दर्द, प्यार, पीड़ा, यंत्रणा···ईर्ष्या···। और भी बहुत कुछ, लेकिन मेरे सामने एक ही भाव उभरकर आया—ईर्ष्या।

देव के लिए नफरत का भाव मेरे मन में इससे पहले कभी नहीं आया था।

काफी देर बाद खुद पर काबू पाकर उसने शिकायती अंदाज़ में कहा: "तुम्हारी व्यस्तता का कोई कारण मेरी समझ में नहीं आ रहा है। जब आता हूं तो मुलाकात नहीं होती। दफ्तर से भी आप अकसर छुट्टी लेकर चल देती हैं।" वह 'तुम' से 'आप' पर उतर आया।

"इसके लिए तुम्हारे परेशान होने की कोई वजह नज़र नहीं आती।" मैंने अपना संतुलन बनाए रखा।

"मुझे भी आजकल कितना वक्त दिया है आपने?" उसकी शिकायत

बरकरार रही।

"मैंने जब भी वक्त दिया है, मिली हूं आपसे।" मैं भी 'तुम' से 'आप' के फासले पर आ गई।

"क्या इसी तरह की मुलाकातें हमारी पहले भी होती थीं? घंटे-घंटे-भर बैठा रहता हूं आपके पास, कहने को कोई बात नहीं होती। कुछ पूछता हूं तो 'हां', 'नहीं' से ज़्यादा कोई जवाब नहीं मिलता। कब तक चलेगा इस तरह?"

"चलाने की बात मैंने तो नहीं कही?"

"तुम्हारे इस तरह बदलने का कारण क्या है?" उसकी आवाज़ में फिर अपनापन आ गया था।

वैसे शायद मैं सब कुछ उसे बता देती, लेकिन उसका यह सवाल सुनकर बदन में आग लग गई।

"यह सवाल पूछने का अधिकार भी तुम्हें अभी दिया नहीं है देव!" जहां तक हो सकता था, मैंने अपनी आवाज़ पर काबू रखा।

"दिया तो तुमने कुछ भी नहीं है।" अपने को संभालने में उसे भी दिक्कत हो रही थी: "तुम्हें किसी बात का खयाल नहीं। लोग तरह-तरह की बातें करने लगे हैं।"

"उसके लिए तुम्हें परेशान होने की ज़रूरत नहीं। इस तरह की बातों में वक्त ज़ाया करने का कोई मतलब नहीं। अगर अपनी ओर से कुछ कहना चाहते हो तो कहो...।"

"वरना उठकर चला जाऊं?" उसने मेरी बात काटकर वाक्य पूरा किया। फिर ज़रा देर रुककर:

"मुझे बहुत पहले समझ लेना चाहिए। मेरा खयाल है, तुमने एक वायदा किया था कभी?"

"मैंने ऐसा कोई वायदा नहीं किया, जिसका हवाला देने की ज़रूरत पड़े। और अपने ज़ाती मामलों में बताना न बताना दोस्ती की तासीर पर निर्भर करता है।" मैं खुद पर काबू नहीं रख पाई।

"मेरी दोस्ती की तासीर पर तुम्हें शक होने लगा है?"

"शक तुम्हारी दोस्ती या उसकी तासीरी पर नहीं, तुमपर हो रहा है।

इतनी रात गए घर आकर इस तरह बहस-मुबाहिसे से तुम्हारा मतलब क्या है ? तुम होते कौन हो ?"

देव तमतमा उठा।

"इतनी-इतनी रात तक सड़कों पर चहलकदमी करने का अधिकार तुम्हारा अपना है, यही कहना चाहती हो न ? इतने बरसों की दोस्ती, इतने गहरे संबंध तुम्हारे लिए कुछ भी नहीं हैं। रीना, अब तुम कॉलेज में पढ़ने वाली लड़की नहीं, मंभ्रांत लेखिका हो···।"

वह और भी कुछ कहता, लेकिन मैं आपे से बाहर हो गई·

"मैं क्या हूं, यह तुम्हारा सिरदर्द नहीं है। एक वक्त ऐसा था, जब ये सारे अधिकार तुम्हें अपने-आप मिल सकते थे। याद है, जब पापा गुजरे थे ? जब दूर-दूर से तसल्लियां देकर तुम चले जाते थे ? मेरा एम० ए० करना तुम्हें पसन्द नहीं आया था ? तुम्हारे हिसाब से शायद मुझे बी० एड० करना चाहिए था, ताकि मुझे कोई नौकरी मिल जाए ? शादी के बाद मुझे लेकर अमरीका जाने की बात तुमने कही थी ? आज तुम मेरा वायदा याद दिलाने आए हो ?···रीना झूठे वायदे नहीं करती है। मैंने तुमसे कोई वायदा नहीं किया।"

आया आकर दरवाज़े के पास खड़ी हो गई थी। उसपर निगाह पड़ी तो मेरी आवाज धीमी पड़ गई.

"और कुछ कहना है ?" मैंने पूछा।

"कहने की गुंजाइश नहीं है, लेकिन एक बात पूछना चाहता हूं।" देव शांत हो गया था। बोला तो उसकी आवाज सधत थी :

"मेरी जरूरत शायद तुम्हें अब नहीं पड़ेगी, ऐसा मैं समझने लगा हूं। इस विषय में तुम कुछ कहना चाहोगी ?"

"नहीं।"

"तुम्हारे इंतजार में बैठना मेरे लिए बेकार है ?"

"मैंने तुम्हें इंतजार करने के लिए कभी नहीं कहा।"

"तुमने कहा था, अभी जल्दी क्या है !"

"मैंने यह भी कहा था, अभी शादी का इरादा मेरा नहीं है।"

"अब भी यही कहोगी ?"

"नहीं । तुमसे अब कहना चाहूंगी, मेरे इंतज़ार में मत बैठो। अगर कभी शादी की तो तुमसे नहीं करूंगी।"

देव का चेहरा स्याह पड़ गया। अपनी कही हुई बातों पर शायद उसे अफसोस हुआ हो। बड़ी देर तक वह स्तब्ध बैठा रहा। आया मेरी बात सुनकर अपने कमरे में चली गई। अंदर से दरवाज़ा उसने ज़ोर से बंद कर लिया। मैंने कोई ध्यान नहीं दिया।

"कोई मिल गया है क्या ?" देव के चेहरे पर ईर्ष्या फिर उभर आई।

मैं खामोश रही। मन में नफरत की एक लहर और दौड़ी।

"मुझे उसी दिन पता चल गया था, जिस दिन तुम्हारे अमित के पुराने दोस्त साहब यहां तशरीफ लाए थे।..."

वह और भी कुछ कहता...मैं उठकर खड़ी हो गई।

"वक्त ज़ाया करने से कोई फायदा नहीं देव ! मैंने तुम्हें अंधेरे में नहीं रखा है।"

"मां को मालूम है ?"

"भूल जाओ...वह तुम्हारा सिरदर्द नहीं है।"

वह उठकर खड़ा हो गया। थोड़ी देर मेरी ओर देखता रहा। न जाने कितनी तरह के भाव उसके चेहरे पर बने-बिगड़े। फिर 'गुडनाइट' कहते हुए वह चला गया।

मैं जहां की तहां जड़ हो गई। कहीं राहत भी मिली। एक न एक दिन तो आखिर यह होना ही था। मुझे देव के जाने का अफसोस नहीं हुआ। आया की नाराज़गी भी कोई मायने नहीं रखती थी। और मां को सारी बातें समझाई जा सकती थीं।

मेरी जड़ता का कारण था सत्यजित।...

अनिश्चय का जंगल था मेरे सामने, जिसमें अनगिनत फूल थे, बेशुमार खुशियां थीं...और एक बड़ा-सा प्रश्नचिह्न। क्या वह मेरा हो सकता था ?

घड़ी देखी, ग्यारह बजकर चालीस मिनट।

मैंने कमरे का दरवाज़ा बंद कर लिया। बीच का परदा उठाकर बेडरूम में आई। एक नज़र इधर-उधर डाली। पर्स अलमारी में रखा। फिर

पीछे का दरवाज़ा खोलकर बाहर सहन में आ गई।

दरवाज़ा मैंने बाहर से बंद करके चाबी घुमा दी।

जलते हुए लट्टुओं के बावजूद सड़क की वीरानी, खुली हवा मुझे अच्छी लगी।

८

कॉलबेल कई बार बजानी पड़ी। नौकर ने उठकर दरवाज़ा खोला। सत्यजित घर में नहीं था।

"तुम जाकर आराम करो।" मैंने नौकर से कहा : "मैं इंतज़ार करूंगी।"

वह चला गया। इस तरह के किसी मेहमान का आदी वह नहीं था। उसकी विस्मित आंखें बता रही थीं, लेकिन मेरे पास भी दूसरा रास्ता नहीं था।

ड्राइंगरूम की बत्ती बंद कर मैं बेडरूम में आ गई। आखिर इतनी रात को सत्यजित कहां चला गया था ?

मेरा इरादा था, बैठकर उसके आने का इंतज़ार करूंगी, लेकिन मेरा मन और मेरा शरीर बुरी तरह थक चुके थे। चादर से खुद को अच्छी तरह ढककर मैं बिस्तर पर लेट गई।

मेरा दिमाग हर आहट के प्रति सजग था। हया या शर्म जैसी बातों का अब कोई मतलब नहीं रह गया था। सत्यजित मुझे इस हाल में देखकर क्या सोचेगा, मेरे प्रति उसकी प्रतिक्रिया क्या होगी, जैसे सवाल बेमानी हो चुके थे। ऐसा लग रहा था, जो कुछ होना हो, हो जाए। देव को मैंने अपनी ज़िंदगी से उसी दिन निकाल फेंका था। कशमकश की हालत ज्वालामुखी बनकर मुझे ही भस्म करने लगे, इसके पहले ही मैं कुछ न कुछ कर लेना चाहती थी। बेरुखी के दामन में छिपे हुए प्यार के शोले मैंने सत्यजित की आंखों में देखे थे।...सत्यजित मुझे मिले या हमेशा के लिए मुझसे छिन जाए, एक बात का एहसास उसे ज़रूर होना चाहिए कि रीना के पास एक जिस्म है, उस जिस्म की कुछ फरमाइशें हैं, और एक पुरुष होने के नाते

सत्यजित उसे मना नहीं कर सकता ।…

"जिस्मानी भूख को मैंने महत्त्व नहीं दिया ।" उसने एक दिन कहा था : "मैं इसे इतना ज़रूरी नहीं मानता कि इसके बगैर काम नहीं चल सकता ।"

"महत्त्व देना न देना आपके हाथ में है, मुझे ताज्जुब है ।" मैं बोली थी : "आप तो कुदरत का रुख बदल देना चाहते हैं ?"

"आपका क्या खयाल है, इसके बगैर ज़िंदगी नहीं चल सकती ?"

"इसमें कोई शक है ?" मैंने अपनी बात पर ज़ोर दिया था ।

"पता नहीं ।" गंभीरता का मुखौटा हमेशा की तरह उसके चेहरे पर उभर आया था ।

"अच्छा, छोड़िए । वक्त आने पर आपको अपनी राय बदलनी पड़ेगी ।" मैंने बातचीत का विषय बदल दिया था ।

सत्यजित के राय बदलने का वक्त आ गया था । पिछले कुछ दिनों से एक खास तरह की चंचलता मैं उसकी आंखों में देखने लगी थी । अपनी ओर अपलक देखते हुए मैंने उसे कई बार महसूस किया था । मेरी आंखों से मिलते ही उसकी नज़र घूम जाती थी । मैं उन नज़रों को पढ़ सकती थी । उनकी भाषा समझती थी । बात सिर्फ पहल करने के इंतज़ार में कितना टल सकती थी ?

बाहर की ओर से खुलने वाले दरवाज़े पर आहट हुई । मैंने कमरे की बत्ती जलाई नहीं थी ।

सत्यजित दरवाज़ा खोलकर अंदर आया । शायद पहली बार उसे गुनगुनाते हुए मैंने सुना था ।

स्विच दबाने का खटका हुआ । कमरा रोशनी से भर उठा । मैं वैसे ही लेटी रही ।

सत्यजित ने शायद बिस्तर की ओर नहीं देखा, क्योंकि बाथरूम का दरवाज़ा खुला और वह अंदर दाखिल हो गया । उसके गुनगुनाने की आवाज़ आती रही । मैंने चादर का कोना हटाकर बाथरूम के दरवाज़े की ओर देखा…देखती रही…। गुनगुनाना बरकरार रहा ।

सिंक चलने, फिर वाशबेसिन पर पानी की आवाज़ बंद हुई तो मैंने चादर का कोना दबा लिया और जडवत् पड़ी रही। पहले बाथरूम की बत्ती बंद हुई। फिर दरवाजा खुला। दरवाजा खोलते ही उसकी निगाह बिस्तर पर पड़ी होगी। उसका गुनगुनाना बंद हो गया था।

कुछ देर खामोशी रही, फिर उसके बिस्तर की ओर बढ़ने का एहसास मुझे हुआ। पास आकर उसने सिर से चादर हटाई। मैंने आँखें बंद रखीं। वह ज़रा देर खड़ा रहा, फिर वहीं मेरे पास बैठ गया। चादर के अंदर से मेरा बायां हाथ निकालकर उसने अपने हाथ में ले लिया।

मेरे लिए ख़ुद को रोक पाना मुश्किल हो रहा था। एक बार मन हुआ, एक झटके से उठकर उसके सामने खड़ी हो जाऊं, कुछ कहूं, लेकिन मेरी ज़बान ख़ुश्क हो रही थी। लगा, आवाज नहीं निकलेगी। और उठकर खड़े होने की ताकत क्या पैरों में बची थी ?

मैं उसके सामने पड़ी रही। वह मेरे सामने बैठा था। हमारी आखें एक-दूसरे पर टिकी थीं। शायद पहली बार वह मेरी ओर लगातार देखता गया। उसकी आंखों की चमक बढ़ती गई। वही चमक, जो पिछले कुछ दिनों में मैं देख रही थी, जिसकी खामोश भाषा मैं समझती थी।

मैं उसके सामने पड़ी थी। मेरी आंखें उसके चेहरे पर जड़ हो गई थीं। वह मेरे सामने बैठा था—*निश्चल, मूर्ति की तरह।*

समय पर लगाकर उड़ने लगा या जम गया, मुझे एहसास नहीं। न जाने कितनी देर, कब तक मैं पड़ी रही। न जाने कितनी देर, कब तक वह बैठा रहा।

तब उसने हाथ बढ़ाकर मुझे अपनी ओर खींचा। वह शायद मुझे अपने पास बिठाना चाहता था, लेकिन मैं उठकर बैठने के लिए तैयार नहीं थी। अपनी बांहों से उसे घेरते हुए मैंने अपना सिर उसकी गोद में रख लिया।

"टेक इट इज़ी।" उसके हाथ मेरे बाल सहलाने लगे।

कितने दिनों से उसे एक अदद छू लेने के बहाने ढूंढा करती थी। कितने दिनों से इस सामीप्य के लिए मेरा मन बेचैन था। वक्त का एहसास जाता रहा मेरे लिए और उसके लिए भी।

"रीना !" काफी देर बाद मुझे अपना नाम सुनाई पड़ा। उसने इस तरह मेरा नाम लेकर मुझे पहले कभी नहीं पुकारा था।

मेरी पलकों पर जाने कितना बोझ था। मेरे हाथ-पैर निर्जीव हो गये थे। सत्यजित के स्पर्श में जाने कैसा सम्मोहन था। मुझे उसकी आवाज़ दूर से आती हुई मालूम पड़ती रही। मेरे जिस्म की चेतना जाने कहां खोती जा रही थी।

उसने मुझे उठाकर बड़े सलीके से बिस्तर के एक सिरे पर लिटा दिया। बत्ती बंद की और आकर मेरी बगल में लेट गया। कुछ देर हम वैसे ही पड़े रहे।···

उसने मेरा सिर अपनी बांह पर रख लिया।···मेरा चेहरा उसके सीने से टिक गया। मैं उसकी धड़कनें सुन सकती थी।

कितना सुकून था! काश, उस एक क्षण में सारी ज़िंदगी समा पाती! सत्यजित, तुम कभी नहीं जान सकते कि उस एक लमहे की अहमियत क्या थी। ज़िंदगी मेरे लिए नई नहीं थी···तुम भी नये नहीं···बहुत नज़दीक से मैं दोनों को देख चुकी थी, फिर भी वह एक लमहा···शायद दुनिया की बादशाहत भी इतनी बड़ी अहमियत नहीं रख सकती। मेरे जिस्म में हरकत हुई।

सत्यजित मेरी बांह के घेरे में आ गया। मेरा चेहरा ऊपर उठा।

"रीना !" उसके होंठ मेरे होंठों पर आकर रुके।

दबाव धीरे-धीरे बढ़ा। शायद मेरी ओर से···

सत्यजित मेरा दबाव महसूस करता रहा। मेरा जिस्म उसकी बांहों में तड़ककर टूटने के लिए मचलने लगा था। सत्यजित पूरी तरह खुद पर काबू पाए मेरी बेचैनी झेलता रहा। तब उसके होंठों पर रखे हुए मेरे होंठों का दबाव ढीला पड़ा। मेरी बांहें शिथिल पड़ने लगीं।

सत्यजित शायद इसी इंतज़ार में था। उसने शिथिल पड़ती मेरी गिरफ्त अपनी सुदृढ़ बांहों में संभाल ली। मेरे होंठों पर जमे हुए उसके होंठों का दबाव बढ़ने लगा।

नीले खुले आसमान में बिजली तड़ककर टूट गई। फिर मुझे कुछ भी याद नहीं।···

नींद खुली तो मेरा दायां हाथ सत्यजित की दोनों हथेलियों से घिरा उसके सीने पर था। उसका निर्वस्त्र शरीर मेरे पास…बहुत पास था। क्या वह सब कुछ सच था?

मैंने फिर आंखें बंद कर लीं।…

नींद दुबारा नहीं आई। मैंने धीरे से अपना हाथ उसकी हथेलियों से मुक्त किया। बड़ी सतर्कता से उठी। अपने बिखरे हुए कपड़े उठाए और बाथरूम की ओर चली गई।

लौटकर आई, तब भी सत्यजित सो रहा था। उसके अधखुले जिस्म पर कई बार मेरी निगाह दौड़ी। यही सत्यजित था, जिसे एक बार छूने की कोशिश में मैंने महीनों लगा दिए थे। न जाने कितनी योजनाएं बना डाली थीं। उसका निरावरण शरीर मेरे सामने पड़ा था, जिसे मैं कहीं से भी देख सकती थी, कहीं से छू सकती थी। उसकी देह की गंध में नहाई मैं उसे कब तक निहारती रही।…

सत्यजित का निर्विकार, शांत, शिथिल चेहरा…कितना आकर्षण था उसमें!

मैंने झुककर उसका माथा चूम लिया।

सत्यजित ने आंखें खोल दीं।

पल-भर को मेरी नजर उससे मिली। उसकी आंखों की निस्सीम गहराइयों में मैं खोने लगी।

उसने मुझे अपनी ओर खींचा। मेरा सिर अपने सीने पर रख लिया। मेरा चेहरा उसकी हथेलियों में घिर गया।

"तो आपने एक व्रत और तोड़ा?" उसने कहा।

मैंने उसकी हथेलियों से अपनी आंखें बंद कर लीं।

"आपको अफसोस है?"

"नहीं।"

इसके बाद कोई कुछ नहीं बोला। सत्यजित जो भी सोच रहा हो, मेरा मन उसीमें रमा हुआ था। मैं अपनी खुदी पूरी तरह भूल चुकी थी।…

"देव से दोस्ती मैंने खत्म कर दी।" काफी देर बाद मैं बोली।

"रीना !" काफी देर वाद मुझे अपना नाम सुनाई पड़ा। उसने इस तरह मेरा नाम लेकर मुझे पहले कभी नहीं पुकारा था।

मेरी पलकों पर जाने कितना वोझ था। मेरे हाथ-पैर निर्जीव हो गये थे। सत्यजित के स्पर्श में जाने कैसा सम्मोहन था। मुझे उसकी आवाज़ दूर से आती हुई मालूम पड़ती रही। मेरे जिस्म की चेतना जाने कहां खोती जा रही थी।

उसने मुझे उठाकर बड़े सलीके से बिस्तर के एक सिरे पर लिटा दिया। वत्ती बंद की और आकर मेरी वगल में लेट गया। कुछ देर हम वैसे ही पड़े रहे।···

उसने मेरा सिर अपनी वांह पर रख लिया।···मेरा चेहरा उसके सीने से टिक गया। मैं उसकी धड़कनें सुन सकती थी।

कितना सुकून था! काश, उस एक क्षण में सारी ज़िंदगी समा पाती! सत्यजित, तुम कभी नहीं जान सकते कि उस एक लमहे की अहमियत क्या थी। ज़िंदगी मेरे लिए नई नहीं थी···तुम भी नये नहीं···वहुत नज़दीक से मैं दोनों को देख चुकी थी, फिर भी वह एक लमहा···शायद दुनिया की वादशाहत भी इतनी वड़ी अहमियत नहीं रख सकती। मेरे जिस्म में हरकत हुई।

सत्यजित मेरी वांह के घेरे में आ गया। मेरा चेहरा ऊपर उठा।

"रीना !" उसके होंठ मेरे होंठों पर आकर रुके।

दवाव धीरे-धीरे वढ़ा। शायद मेरी ओर से···

सत्यजित मेरा दवाव महसूस करता रहा। मेरा जिस्म उसकी वांहों में तड़ककर टूटने के लिए मचलने लगा था। सत्यजित पूरी तरह खुद पर कावू पाए मेरी वेचैनी झेलता रहा। तव उसके होंठों पर रखे हुए मेरे होंठों का दवाव ढीला पड़ा। मेरी वांहें शिथिल पड़ने लगीं।

सत्यजित शायद इसी इंतज़ार में था। उसने शिथिल पड़ती मेरी गिरफ्त अपनी सुदृढ़ वांहों में संभाल ली। मेरे होंठों पर जमे हुए उसके होंठों का दवाव वढ़ने लगा।

नीले खुले आसमान में विजली तड़ककर टूट गई। फिर मुझे कुछ भी याद नहीं।···

नींद खुली तो मेरा दायां हाथ सत्यजित की दोनों हथेलियों में घिरा उसके सीने पर था। उसका निर्वस्त्र शरीर मेरे पास···बहुत पास था। क्या वह सब कुछ सच था ?

मैंने फिर आंखें बंद कर ली।···

नींद दुबारा नहीं आई। मैंने धीरे से अपना हाथ उसकी हथेलियों से मुक्त किया। बड़ी सतर्कता से उठी। अपने बिखरे हुए कपड़े उठाए और बाथरूम की ओर चली गई।

लौटकर आई, तब भी सत्यजित सो रहा था। उसके अधखुले जिस्म पर कई बार मेरी निगाह दौड़ी। यही सत्यजित था, जिसे एक बार छूने की कोशिश में मैंने महीनों लगा दिए थे। न जाने कितनी योजनाएं बना डाली थीं। उसका निरावरण शरीर मेरे सामने पड़ा था, जिसे मैं कहीं से भी देख सकती थी, कहीं से छू सकती थी। उसकी देह की गंध में नहाई मैं उसे कब तक निहारती रही।···

सत्यजित का निर्विकार, शांत, शिथिल चेहरा···कितना आकर्षण था उसमें !

मैंने झुककर उसका माथा चूम लिया।

सत्यजित ने आंखें खोल दीं।

पल-भर को मेरी नजर उससे मिली। उसकी आंखों की निस्सीम गहराइयों में मैं खोने लगी।

उसने मुझे अपनी ओर खींचा। मेरा सिर अपने सीने पर रख लिया। मेरा चेहरा उसकी हथेलियों में घिर गया।

"तो आपने एक व्रत और तोड़ा ?" उसने कहा।

मैंने उसकी हथेलियों से अपनी आंखें बंद कर लीं।

"आपको अफसोस है ?"

"नहीं।"

इसके बाद कोई कुछ नहीं बोला। सत्यजित जो भी सोच रहा हो, मेरा मन उसीमें रमा हुआ था। मैं अपनी खुदी पूरी तरह भूल चुकी थी।···

"देव से दोस्ती मैंने खत्म कर दी।" काफी देर बाद मैं बोली।

सत्यजित ने मेरा चेहरा ऊपर उठाया :

"ऐसा क्यों किया ?" मेरी बात से वह खुश नहीं मालूम पड़ा।

"क्योंकि उसे अंधेरे में रखने से मेरी परेशानी बढ़ रही थी। ऐसे अब ज़्यादा नहीं चल पाता।"

'क्या मतलब ?" उसकी आवाज सपाट थी।

"मतलब मैं आपको कैसे समझाऊं !" मुझे सत्यजित की बात जितनी बेतुकी लगी, उससे ज़्यादा दु:ख हुआ। समझाने के लिए बाकी क्या था ? जिस तरह मैं उसके पास थी, क्या उतना काफी नहीं था ? सत्यजित मुझसे क्या कहलवाना चाहता था या खुद कहां मजबूर था, यह बात तब मेरी समझ में नहीं आई थी।

मन का सारा उल्लास खत्म हो गया। उसके सीने पर रखा मेरा सिर घूमने लगा।

सत्यजित क्या अब भी ऐसे ही सवाल करेगा ? क्या अब भी मुझे खोलकर कहना होगा, मुझे उसकी जरूरत है ? कि उसके बगैर मैं रह नहीं सकती ? सवाल मंडराने लगे, लेकिन मैं कुछ कह नहीं पाई।

थोड़ी देर वह वैसे ही लेटा रहा। मेरा सिर उसके सीने पर था, फिर उसने मुझे अपनी बांहों पर ले लिया। लगा, उठने का उसका मन नहीं है और न ही वह मुझे छोड़ना चाहता है।

सुबह का सूरज सहन में उतरा तो मैं अपने कमरे में थी। मेरे कपड़ों, मेरे जिस्म से एक भीनी-भीनी खुशबू आ रही थी। ऐसी खुशबू, जिसमें नहाकर मैं सम्मोहित हो उठी थी। मेरी आंखें बंद थीं। उनके सामने सत्यजित की पूरी शख्सियत थी—निरावरण देह, बड़ी-बड़ी गहरी आंखें, सुदृढ़ बांहें, उनपर उगे हुए रोएं, उनके घेरे में बंधी हुई मैं, मेरा टूटता हुआ जिस्म।...आज भी सिहरन होती है।

किसी फैसले के लिए आमादा मेरा मन अगर सारे बंधन तोड़कर उस रात सत्यजित के पास न पहुंचा होता तो क्या वह मुझे मिला होता ?...

सत्यजित मेरे पास कभी न आता। सारी ज़िंदगी मेरा इंतजार करते हुए भी इस बात को वह कभी न कहता और मैं, अंधेरे के एक

दायरे से निकलकर दूसरे में भटकती रहती। रोशनी की वह किरण मुझे कभी न मिलती, जिंदगी की एक चुनौती मैं कभी न मानती और कौन जाने उसी द्वंद्व में घुट-घुटकर एक दिन दम तोड़ देती।

मेरा ख्याल था, उस शाम की बातचीत के बाद देव मेरे पास कभी नहीं आएगा। हो सकता है, मां को उलटा-सीधा कुछ लिखे, मेरी गैर-मौजूदगी में आया से ही कुछ बातचीत करे; लेकिन ऐसा कुछ नहीं हुआ।

सत्यजित के साथ बिताई हुई रात के बाद दो दिन मैं ऑफिस नहीं गई। वे दोनों शामें मेरी सत्यजित के साथ उसके घर पर बीतीं। न जाने कितनी बातें हुईं। न जाने कितनी यादें दोहराई गईं। देव को दिया हुआ मेरा जवाब सत्यजित को पसंद नहीं आया था।

"आपको पता नहीं, देव आपको कितना चाहते हैं।" उसने बार-बार कहा था।

मैं कहना चाहती थी, तुम भी तो मुझे चाहते हो, लेकिन मैंने कहा : "मैं भी तो किसीको चाहती हूं, उसे पता है ?"

"पता हो भी सकता है, लेकिन देव से आपके संबंध पुराने हैं।"

"इसीलिए मुझे उसकी हर बात मान लेनी चाहिए ?"

"मैंने ऐसा कुछ नहीं कहा, लेकिन देव के प्रति थोड़ी सहानुभूति से सोचिए।"

"आपकी सहानुभूति इतनी है कि मैं भी उसीमें शामिल हो सकती हूं।"

मन की अजीब हालत थी। कभी लगता, मुझे पाकर सत्यजित कोई अमूल्य चीज पा गया है। उसका सारा परायापन, सारी दूरी खत्म हो गई है। कभी लगता, देव के लिए उसके मन में अपार दर्द है। अगर मैं एक बार भी कह दूं तो देव के लिए मुझे छोड़कर हमेशा के लिए वह मेरे रास्ते से हट जाएगा, या मुझे अपने रास्ते से हट जाने के लिए मजबूर कर देगा।

मैं जानती थी, सत्यजित किसीको दुखी नहीं देख ... इस आदत के लिए मैं अपनी खुशियां कुर्बान नहीं कर सकती। ... प्रति उसकी सहानुभूति मैंने बड़े धैर्य से सही। उसने मुझे यह

जो देव या अमित कोई भी नहीं दे पाया था, जिसके बाद कुछ और पाने की चाहत खत्म हो जाती है। अमित अगर जिंदा रहता तो देता···शायद उतना कि मैं उसे संभाल भी न पाती। लेकिन देव ? वह मुझसे कटकर अमरीका गया था। वहां, अगर कोई तवदीली आई और सुवह के भूले की तरह शाम को वह वापस आया तो इसके लिए मैं क्या करती ? अमित के वाद सत्यजित ही आ सकता था।

मैंने सोचा, कभी तो वह दिन आएगा, जव वह कहेगा :

"रीना, मुझे तुम्हारी ज़रूरत है।"···

और उस दिन का इंतज़ार मुझे करना था।

सत्यजित के हिसाव से मैं इंसाफ की हकदार हूं। उसकी वात कभी गलत नहीं हो सकती। समाज से किसी न्याय की तलव मुझे नहीं थी। परिवार में अपने मन की मालिक थी। अव भी हूं। मां चाहती है, अपने भविष्य की गुत्थियां मैं खुद ही सुलझाऊं। पापा का इतना अंश न जाने उनमें कैसे आ गया है ! और भी न जाने कितनी तवदीलियां आई हैं उनमें···पापा के 'सुदर्शन विला' से भी उनका मोह टूट चुका है। अपना सुख-दुःख पहचानने का पूरा हक उन्होंने मुझे दे दिया है। सारी ज़िम्मेदारियां मेरे सिर मढ़कर मुक्त होने की तमन्ना दिनोंदिन गहरी होती जा रही है उनके मन में।

सत्यजित ने कहा है, इंसाफ मुझे मिलेगा। मैं भी जानती हूं, लेकिन क्या सत्यजित इंसाफ लेकर आएगा मेरे पास ? मैंने ऐसी कोई मांग पेश नहीं की थी। अपने भावुक क्षणों में सोचती हूं, आएगा, सत्यजित ज़रूर आएगा।

मैंने अगर सत्यजित से एक वायदा न किया होता तो इन सारे अध्यायों का अंत हो चुका होता। दुनिया के सारे रिश्ते-नाते तोड़कर रीना इस वियावान इलाके में एक वूढ़े चौकीदार और अंगरक्षक 'टाइगर' के साथ किसी इंसाफ के इंतज़ार में न वैठी होती। दुनिया के तमाम जीवित प्राणियों की सूची से एक नाम कट गया होता। देव की कसक खत्म हो गई होती। सत्यजित के इम्तहान वेमानी हो जाते।···

काश, मैंने सत्यजित से वह वायदा न किया होता !

बहरहाल सत्यजित से मेरी जिस्मानी मुलाकातें फिर हुईं। हर स्तर पर हम बारीकियों में उतरे। सत्यजित को पाकर मैंने सब कुछ पा लिया।

लिखना-लिखाना भूल गया। जोरबाग छोड़कर कहीं और रहना मेरे लिए संभव नहीं था। कन्नन की ऊपरी आमदनी कम होते-होते बंद होने पर आ गई। हर महीने कुछ रुपये बैंक से निकालने की नौबत आ गई। लेकिन सत्यजित था। जब चाहती, उसे मिल सकती थी। मुझे कोई परेशानी नहीं थी। पापा ने अपनी इकलौती बेटी को सड़क पर तो नहीं छोड़ा था, जिसे अपनी जिंदगी के लिए मजदूरी करनी पड़ती। काश, इतना ही काफी होता! काश, पढ़ाई खत्म करके मां के पास वहीं बनी रही होती! बेकारी से ऊबकर अपना शहर छोड़कर राजधानी के रेशमी आंचल का सहारा न लिया होता! काश…

लेकिन तब, सत्यजित कहां होता? मैं कहां होती? हमारे बीच का अनकहा रिश्ता कहां होता? जिंदगी पर किसी हक या उससे इंसाफ पाने की बात कहां होती?

सत्यजित और मेरे संबंध की बात पता लगाने में देव को ज्यादा वक्त नहीं लगा। हो सकता है, उसने मुझे सत्यजित के घर आते-जाते भी देखा हो। मैंने छिपाने की कोशिश नहीं की। अपना आखिरी फैसला सुनाने के बाद मैं जान गई थी, देव मुझसे कुछ भला-बुरा न कहे, इतनी आसानी से अपनी हार नहीं मानेगा। और इसके लिए मैं उसे दोषी नहीं मानती। उसके साथ जिंदगी बिताना किसी भी लड़की के लिए सौभाग्य की बात होती। मेरे कोई सुरखाब के पर नहीं लगे थे; लेकिन सत्यजित जो मेरा सुरखाब बन गया, उसके लिए मैं क्या करती?

देव ने मुझसे मिलने की कई बार कोशिश की। मेरे घर भी आया, लेकिन मेरे पास उसके लिए वक्त नहीं था। उसके व्यवहार में कोई तल्खी होती तो मैं उसे झिड़क सकती थी। मुझे अपमानित करता या सत्यजित के खिलाफ कुछ कहता तो भी कुछ कहने या करने की गुंजाइश थी।…देव मेरे लिए कोई भी काम आसान नहीं बना रहा था।

मेरे लिए कुल मिलाकर सब कुछ कहना इतना मुश्किल होता जा

जो देव या अमित कोई भी नहीं दे पाया था, जिसके वाद कुछ और पाने की चाहत खत्म हो जाती है। अमित अगर ज़िंदा रहता तो देता…शायद उतना कि मैं उसे संभाल भी न पाती। लेकिन देव ? वह मुझसे कटकर अमरीका गया था। वहां, अगर कोई तवदीली आई और सुवह के भूले की तरह शाम को वह वापस आया तो इसके लिए मैं क्या करती ? अमित के वाद सत्यजित ही आ सकता था।

मैंने सोचा, कभी तो वह दिन आएगा, जव वह कहेगा :

"रीना, मुझे तुम्हारी ज़रूरत है।"…

और उस दिन का इंतज़ार मुझे करना था।

सत्यजित के हिसाव से मैं इंसाफ की हकदार हूं। उसकी वात कभी गलत नहीं हो सकती। समाज से किसी न्याय की तलव मुझे नहीं थी। परिवार में अपने मन की मालिक थी। अव भी हूं। मां चाहती है, अपने भविष्य की गुत्थियां मैं खुद ही सुलझाऊं। पापा का इतना अंश न जाने उनमें कैसे आ गया है ! और भी न जाने कितनी तवदीलियां आई हैं उनमें…पापा के 'सुदर्शन विला' से भी उनका मोह टूट चुका है। अपना सुख-दु:ख पहचानने का पूरा हक उन्होंने मुझे दे दिया है। सारी ज़िम्मेदारियां मेरे सिर मढ़कर मुक्त होने की तमन्ना दिनोंदिन गहरी होती जा रही है उनके मन में।

सत्यजित ने कहा है, इंसाफ मुझे मिलेगा। मैं भी जानती हूं, लेकिन क्या सत्यजित इंसाफ लेकर आएगा मेरे पास ? मैंने ऐसी कोई मांग पेश नहीं की थी। अपने भावुक क्षणों में सोचती हूं, आएगा, सत्यजित ज़रूर आएगा।

मैंने अगर सत्यजित से एक वायदा न किया होता तो इन सारे अध्यायों का अंत हो चुका होता। दुनिया के सारे रिश्ते-नाते तोड़कर रीना इस वियावान इलाके में एक बूढ़े चौकीदार और अंगरक्षक 'टाइगर' के साथ किसी इंसाफ के इंतज़ार में न वैठी होती। दुनिया के तमाम जीवित प्राणियों की सूची से एक नाम कट गया होता। देव की कसक खत्म हो गई होती। सत्यजित के इम्तहान वेमानी हो जाते।…

काश, मैंने सत्यजित से वह वायदा न किया होता !

बहरहाल सत्यजित से मेरी जिस्मानी मुलाकातें फिर हुईं। हर स्तर पर हम बारीकियों में उतरे। सत्यजित को पाकर मैंने सब कुछ पा लिया।

लिखना-लिखाना भूल गया। जोरबाग छोड़कर कहीं और रहना मेरे लिए संभव नहीं था। कलम की ऊपरी आमदनी कम होते-होते बंद होने पर आ गई। हर महीने कुछ रुपये बैंक से निकालने की नौबत आ गई। लेकिन सत्यजित था। जब चाहती, उसे मिल सकती थी। मुझे कोई परेशानी नहीं थी। पापा ने अपनी इकलौती बेटी को सड़क पर तो नहीं छोड़ा था, जिसे अपनी जिंदगी के लिए मजदूरी करनी पड़ती। काश, इतना ही काफी होता! काश, पढ़ाई खत्म करके मां के पास वहीं वली रही होती! बेकारी से ऊबकर अपना शहर छोड़कर राजधानी के रेशमी आंचल का सहारा न लिया होता! काश…

लेकिन तब, सत्यजित कहां होता? मैं कहां होती? हमारे बीच का अनकहा रिश्ता कहां होता? जिंदगी पर किसी हक या उससे इंसाफ पाने की बात कहां होती?

सत्यजित और मेरे संबंध की बात पता लगाने में देव को ज्यादा वक्त नहीं लगा। हो सकता है, उसने मुझे सत्यजित के घर आते-जाते भी देखा हो। मैंने छिपाने की कोशिश नहीं की। अपना आखिरी फ़ैसला सुनाने के बाद मैं जान गई थी, देव मुझसे कुछ भला-बुरा न कहे, इतनी आसानी से अपनी हार नहीं मानेगा। और इसके लिए मैं उसे दोषी नहीं मानती। उसके साथ जिंदगी बिताना किसी भी लड़की के लिए सौभाग्य की बात होती। मेरे कोई सुरखाव के पर नहीं लगे थे; लेकिन सत्यजित जो मेरा सुरखाव बन गया, उसके लिए मैं क्या करती?

देव ने मुझसे मिलने की कई बार कोशिश की। मेरे घर भी आया, लेकिन मेरे पास उसके लिए वक्त नहीं था। उसके व्यवहार में कोई तल्खी होती तो मैं उसे झिड़क सकती थी। मुझे अपमानित करता या सत्यजित के खिलाफ कुछ कहता तो भी कुछ कहने या करने की गुंजाइश थी।…देव मेरे लिए कोई भी काम आसान नहीं बना रहा था।

मेरे लिए कुल मिलाकर सब कुछ कहना इतना मुश्किल होता जा

रहा था कि कभी-कभी मैं घंटों सिर पर हाथ रखकर बैठी रहती। अकेलेपन से मुझे डर लगने लगा था।···

आया को मैंने मां के पास भेज दिया था, यह कहकर कि एक महीने के लिए मुझे ऑफिस के काम से बाहर जाना पड़ रहा है। कम से कम एक परेशानी कम हुई थी।

खुशी के लमहे उतने ही होते, जितनी देर मैं सत्यजित के पास होती। सत्यजित मुझसे बार-बार कहता :

"संतुलन खोने से बात नहीं बनती। हर कदम समझदारी से लिया जाना चाहिए।" शायद वह मेरी थाह लेता।

"आपके पास आने की लालसा अगर संतुलन खोना है तो खो जाने दीजिए ऐसा संतुलन।"

"आपके समाज वाले क्या कहेंगे ?"

"कौन-से समाज वाले ? मेरा कोई समाज नहीं।"

"आपको किसीसे डर नहीं ?"

"है। आपसे।"

सत्यजित हंसने लगता :

"मुझसे किसीको क्या डर हो सकता है ?"

"किसीको नहीं, मैंने अपनी बात कही थी।"

"आपको मुझसे क्या डर है ?"

"आप किसी भी समय कुछ भी कर सकते हैं।"

"भाग जाऊंगा ?"

"कोई भरोसा नहीं।"

"जाऊंगा कहां ? आप पहुंच जाएंगी।"

"फिर भागिए ही क्यों ?"

"आपकी स्पीड के साथ नहीं चल पाऊंगा तो भागना ही होगा।"

"मेरी स्पीड से अब भी शिकायत है आपको ?"

"आपने कभी सोचा है, पिछले कुछ महीनों से घटनाएं कितनी तेज़ी से घटी हैं ?"

"वह स्पीड घटनाओं की हुई, न कि मेरी।"

सत्यजित मुझे बाहों में बांध लेता :

"उन घटनाओं को चलाने वाला कौन है ?"

"आप।" मैं उसके सीने से टिक जाती।

"यह इलज़ाम भी मुझीपर लगाएंगी ?" सत्यजित की गिरफ्त बढ़ जाती। हम खामोश हो जाते।

सत्यजित कभी-कभी पूछता :

"देव से मुलाकात हुई थी ?"

"आया था।"

"कभी-कभी सोचता हूं, आप इतनी संगदिल कैसे हो सकती है ?"

"इसमें संगदिली की क्या बात है ? उसे धोखे में रखना क्या बेहतर होता ?"

"एक रिश्ता टूटकर दूसरा कैसे जुड़ जाता है ?" मेरी बात पर ध्यान न देकर वह एक नया सवाल करता।

"खुदा की कुदरत।"

"किसीका दिल दुखाया जाए, खुदा ऐसा कभी नहीं कह सकता।"

"खुदा यह भी नहीं कहता कि अपना दिल दुखाया जाए और किसीका दिल अपने-आप दुखने लगे तो खुदा कुछ कर भी नहीं सकता।"

"अच्छा छोड़िए, खुदा न तो मेरे लिए कुछ कहने आएगा और न किसीके लिए कुछ करने। देव में क्या कमी देखी आपने ? आपने उन्हें मना क्यों कर दिया ?"

मैं उसकी ओर देखती…देखती रहती, फिर कहती.

"मुझे पता नहीं।"

"इतना बड़ा कदम बगैर कुछ जाने ले लिया ?"

"बड़े कदम ऐसे ही लिए जाते है।"

"मेरे साथ चल पाएंगी आप ?"

तब उसके इस सवाल का मतलब मैं नहीं समझी थी। कहती : "धीरे ही चलना होगा न ? आप कहेंगे तो मैं जमकर बैठ जाऊंगी।"

"आपको शायद पता नहीं, भावुकता में कितनी बड़ी बात आप कर गई है। आप देव को बचपन से जानती हैं। मेरी-आपकी मुलाकात अभी कुछ

महीनों की है। मेरे बारे में आप कुछ नहीं जानतीं। ज़िंदगी के भरे मूल्य, भविष्य के प्रति मेरी आस्था क्या है, आपको नहीं मालूम। मैं अब भी कहता हूं, एक बार फिर से सोचिए।"

"अगर मैं आपको इतनी बुरी लगती हूं," मैं रुआंसी होने लगती : "तो साफ-साफ क्यों नहीं कहते, मैं आपके रास्ते से हट जाऊं। देव का सहारा लेकर अपनी बात क्यों कहते हैं ?"

सत्यजित मेरी ओर देखने लगता। उसके चेहरे पर कुछ ऐसे भाव होते, जैसे उसकी बात की तह तक पहुंचने में मुझे बहुत समय लगेगा।

सत्यजित का वह सोचना ठीक था। आज भी उसकी आंखों का वह भाव मुझपर पूरी तरह ज़ाहिर नहीं हो पाया है। आज भी मैं हां-नहीं के द्वंद्व में अक्सर पड़ जाती हूं। कभी लगता है, सत्यजित के लिए मैं एक ऐसी ज़रूरत हूं, जिसके बिना उसका काम नहीं चल सकता। कभी लगता है, सत्यजित अपने में पूरा है, उसे कभी किसीकी जरूरत नहीं पड़ी…कभी किसीकी ज़रूरत नहीं पड़ेगी।

सत्यजित से अलग एक पल गुज़ारना भी मेरे लिए मुश्किल पड़ने लगा। जोरबाग से चलते तो सत्यजित मुझे कनॉट प्लेस छोड़ता हुआ अपने ऑफिस की ओर चला जाता। उन दिनों इंजीनियरों की स्ट्राइक चल रही थी। वहां जाकर वह क्या करता, कितनी देर रहता, मुझे नहीं मालूम। मैंने कभी पूछा भी नहीं। न ही उसने अपनी तरफ से कुछ बताया। मुझसे मिलने मेरे ऑफिस वह कभी नहीं आया, लेकिन मेरे ऑफिस के कई लोगों ने कई जगह मुझे उसके साथ देखा था। पहले देव, फिर सत्यजित। मेरा परिचय उनके लिए काफी हो सकता था। मुझे उसकी चिंता नहीं थी। वैसे भी मेरा बॉस भला आदमी था। उसे किसीकी ज़ाती ज़िंदगी से कोई मतलब नहीं था। मेरे लिए इससे कोई फर्क नहीं पड़ता था, लेकिन दफ्तर वाले निराश ज़रूर थे।

देव से भी कभी-कभी मुलाकात हुई। औपचारिक बातचीत के बाद कॉफी पीने की नौबत कभी नहीं आई। सत्यजित हमेशा उससे आगे बढ़कर मिला। देव उसकी शराफत के लिए शुक्रगुजार हुआ। सत्यजित ने हमेशा उसे कॉफी पर आमंत्रित किया। व्यस्तता का बहाना बनाकर देव ने हमेशा

माफी मांग ली।

सत्यजित के सामने देव मेरी तरफ कम ही मुखातिब हुआ। मुझे उस की बेरुखी अच्छी लगी।

लेकिन इतना सब होते हुए भी कहीं कुछ था, जिसे मैं देख नहीं सकती थी। जिसका एहसास मुझे अक्सर होने लगता। मुझे लगता, मेरे दिन-रात, मेरी खुशियों पर एक ऐसी छाया पड़ रही है, जो हो सकता है, मुझसे मेरा सब कुछ छीन ले। कोई कारण नहीं था। चंद सवाल थे, जो शुरू में मैंने बेमानी समझे, उनकी ओर ध्यान नहीं दिया। समय और संयोग मुझे सत्यजित के नजदीक लाते गए, मैं एक नशे में सब कुछ भूली रही। फिर नशा कुछ कम हुआ। वे सवाल अपनी अहमियत मनवाने के लिए मचलने लगे। मैंने उन्हें तरह देने की कोशिश की। वे बुलन्द होते गए। मैंने उनकी ओर सरसरी निगाह से देखा। उनमें से कुछ मायने रखते हुए मालूम पड़े। फिर एक दिन आया, जब मैं उन सवालों के सामने अवाक् रह गई, सवाल मेरे सामने सिर उठाए खड़े थे।

सत्यजित ने अपनी ओर से मिलने की बात मुझसे कभी नहीं कही।...

मधुरतम क्षणों में भी उसने किसी बात का वायदा कभी नहीं किया।...

अपने प्रति मेरी बेचैनी को रफ्तार की संज्ञा देकर हमेशा मुझे आगाह करता रहा।...

अपने किसी परिचित-अपरिचित से उसने मेरी मुलाकात कभी नहीं करवाई।...

कभी नहीं कहा कि उसे मेरी जरूरत है या मुझसे मिलने के लिए वह बेचैन रहा।...

अपनी ओर से उसने कभी कुछ नहीं कहा।...

यहां तक तो उसकी तटस्थता जाहिर थी। शिद्दत से ये कमियां मुझे महसूस भी हुईं। क्या मैं उसपर खुद को थोप रही थी? फिर भी मैं चुप रही। मुझे लगा, समय के साथ सब कुछ ठीक हो जाएगा। मुझे खुद पर विश्वास था, लेकिन उलझन में डालने वाली बात थी :

उसने कभी मुझे किसी बात के लिए मना नहीं किया। मैंने उसके पास आना चाहा तो थोड़ी कोशिश के बाद उसने मुझे आने दिया। मैंने जो

कुछ कहा, उसने ध्यान से सुना, सवालों के जवाब भी दिए, लेकिन सिर्फ उन्हींके सहारे किसी नतीजे पर नहीं पहुंचा जा सकता था। मैं कभी-कभी सोचने लगी, मेरी और उसकी जिन्दगी की रूप-रेखा क्या बनेगी ?

लेकिन उसका सम्मोहन था कि उसे देखते ही मैं सब कुछ भूल जाती। उसके घर होती तो लगता, वह मेरा अपना घर है। हमेशा से मैं वहां रहती आ रही हूं। अपने घर आती तो भरोसा नहीं होता, मैं उसके पास से आ रही हूं। उसका घर मेरा अपना घर था।···अजीब कशमकश थी।

"एक उलझन होने लगी है मुझे।" एक दिन मैंने उससे कहा।

"उलझन होने लगी ?" वह मुस्कराया।

"मज़ाक नहीं, मैं सच कह रही हूं।"

"कहिए।"

"आपके पास रहती हूं तो लगता है, कभी अलग नहीं होना। ऐसे ही रहती जाऊंगी। चली जाती हूं तो लगता है, पता नहीं फिर कब मुलाकात हो।"

"रोज़ ही तो मिलते हैं। ऐसा क्यों लगता है ?"

"पता नहीं। यही तो पूछना चाहती थी।"

"यह तो आप बताएंगी।"

"मुझे पता होता तो मैं आपसे क्यों पूछती ?"

"आपको मुझसे कोई शिकायत है ?"

सत्यजित से किसीको क्या शिकायत हो सकती है ?···शिकायत का मौका वह कभी किसीको नहीं देता।

"नहीं।" मैंने कहा।

"मुझपर भरोसा नहीं ?"

"है।"

"ऐसा क्यों लगता है आपको ?" ज़रा देर रुककर उसने फिर कहा : "अच्छा छोड़िए, इस विषय पर फिर बात करेंगे।"

उसकी इतनी बात से मुझे तब तसल्ली मिल गई थी। मैं जानती थी, यह उसकी पुरानी आदत है। किसी उलझन में दिमाग पड़ जाए तो विषय

बदल देगा, या किसी दूसरी बात में व्यस्त हो जाएगा।

सत्यजित का सामीप्य था मेरे पास। इतना ही सच था, बाकी बातें कोई खास अहमियत नहीं रखती थीं तब।

९

अपने कमरे की इस वीरान खिड़की पर खड़ी होती हूं तो सामने की पहाड़ियां अपने ही जैसी बेगानी लगती हैं मुझे। मेरा इनसे कोई वास्ता नहीं। अपने से भी मेरा क्या वास्ता है? अकेलेपन को जिस आग में मैंने अपने-आपको झोंक दिया है, इसके लिए कौन जिम्मेदार है? अमित की यादों के साये प्रेत बनकर मुझे डराते हैं। वह मेरा अपना था। उसके साथ जिन्दगी की खुशियां अगर मिली होतीं तो मेरी अपनी थीं। मैंने जो कुछ किया, उसकी मर्ज़ी से किया। मुझे लेखिका बनने का कोई शौक नहीं था, महत्त्वाकांक्षा तो दूर की बात थी। यह जहर मेरे दिमाग में उसीने भरा। जिन्दा होता तो उसकी बात मैं काट देती। मर गया तो यह उसकी आखिरी ख्वाहिश बनकर मेरे सामने आई। बेहूदे संस्कार सामने न आए होते तो मैं उसकी ख्वाहिश को भाड़ में जाने देती। सत्यजित मुझे मिलता, न मिलता, जिन्दगी कोई न कोई लीक तो पकड़ ही लेती।···लेकिन तब क्या मैं दूसरों की बनाई हुई लीक पर चल पाती?

"लीक पर चलना आसान होता है।" पापा कहा करते थे· "मुश्किल उनके सामने आती है, जो दूसरों की बनाई हुई लीक से अलग हटकर चलते हैं···अपनी लीक खुद बनाते हैं।"

"दुनिया उन्हें बुरा कहती है।" मैं दलील पेश करती।

"जिन्दगी दुनिया की होती है या अपनी?"

"जिन्दगी तो अपनी होती है।"

"फिर दुनिया बीच में कहां से आ गई?" पापा तर्क देकर मुझे कुरेदने की कोशिश करते।

"आदमी समाज में रहता है पापा! दुनिया का एक हिस्सा समाज भी

तो है।" मैं जानबूझकर बात आगे बढ़ाती।

"और समाज आदमी ही बदलता है।"

मुझे पापा की बात घिसी-पिटी लगती। इसलिए नहीं कि मैं समाज की लीकों पर चलना पसन्द करती थी, बल्कि इसलिए कि मैं यह सुनते-सुनते तंग आ चुकी थी। पापा से मैं कोई नई बात सुनना चाहती। पापा जानते थे। मुझे कुरेदने में, छेड़ने में उन्हें मज़ा आता था। मैं भी जानती थी और बार-बार फैसला करती थी कि पापा की बात पर चिढ़ूंगी नहीं, लेकिन चिढ़ने पर मेरा अंकुश नहीं रह पाता था।

"ये बातें कहने-सुनने में अच्छी लगती हैं पापा!" मैं संजीदा हो जाती : "बात जब अपने सिर आती है तो बड़े-बड़े लोगों के आदर्श बदल जाते हैं।"

"आहा, मेरी बेटी मुझे चुनौती दे रही है!" पापा मूड में आ जाते। छेड़खानियां कुछ और चलतीं, तब वह गंभीर हो जाते। मेरी ओर तीखी नजरों से देखते और बोलते तो लगता, बात किसी तीसरे से कही जा रही हो :

"देखो रीना, आदमी को एक ज़िदगी मिलती है। उसे अपने ढंग से जीने का उसे पूरा हक है। अपनी ज़िदगी की लीक उसे खुद बनानी चाहिए। अगर उसकी बनाई हुई लीक समाज की लीक से मिलती-जुलती है तो इसे महज एक इत्तफाक माना जा सकता है। एक लीक चूंकि बन चुकी है, इसलिए ज़िदगी उसपर चले, यह जरूरी नहीं। आखिर जिन लोगों ने लीकें बनाई होंगी, उन्होंने अपने लिए ऐसा किया होगा। हमारे-तुम्हारे लिए तो नहीं ?"

मैं पापा को देखती रहती। कभी बोलती तो मेरी आंखें मुस्करा पड़तीं : "चिंता न कीजिए पापा! आपकी बेटी अपनी ज़िदगी की लीक खुद बनाएगी।"

पापा गर्व से मेरी ओर देखते : "मुझे अपनी बेटी से यही उम्मीद है।"

काश, पापा कुछ दिन और रहे होते···काश, मैं ज़िदगी की वीरानियों में इस तरह अकेली न आ पड़ी होती···

लेकिन तब पापा की बात गलत हो जाती। मुझे अपनी लीक खुद

बनानी थी। दूसरों के बनाए हुए रास्ते मेरे लिए नहीं थे। पापा की आस्था मैं तोड़ नहीं सकती थी। सबूत थी ये वीरानियां, जिनमें मैं जी रही थी।

"जब कहीं से कोई सहारा नहीं मिलता, तब आदमी अपना सहारा खुद बन जाता है।" पापा कहा करते थे...

मां छः महीने के लिए ऋषिकेश चली गई है। कभी-कभी उनकी चिट्ठी आ जाती है तो एकरसता खत्म होती है, वरना एक सिलसिला चल पड़ा है, जो तब तक चलता रहेगा, जब तक कोई और न बन जाए। मुझे कोई शिकायत नहीं। सुबह उठकर टाइगर के साथ पहाड़ी सड़कों पर दूर-दूर की सैर, शाम को टूरिस्टों की उड़ती हुई निगाहों का शिकार। बाकी समय अपनी मेज पर या साथ लाई हुई किताबों के साथ।

नैनीताल और भीमताल के बीच, भवाली के नजदीक तीन कमरों की एक कॉटेज मां ने छः महीने के लिए किराये पर लेकर अपने परम विश्वास-पात्र बूढ़े रामदीन के साथ मुझे यहां भेज दिया है, ताकि जिंदगी की हलचल से दूर, प्रकृति की एकांत गोद में मैं अपने भविष्य की रूपरेखा बना सकूं।

मैं जानती हूं, सत्यजित के बिना मेरा भविष्य नहीं बन सकता। मां की तसल्ली के लिए मुझे उनकी बात माननी थी। उससे भी ज्यादा जरूरी था अपने को एक ऐसे इम्तहान में रखना, जो शायद सत्यजित के नजदीक रहकर संभव न हो पाता।

लगता है, सदियां गुजर गई हैं, जब मैंने उसे देखा था। एक दिन उसे न देखकर तड़पने वाला मेरा मन कैलेंडर की एक-एक तारीख काटकर पूरे दो महीने गुजार चुका है।

मैंने फिर से लिखना शुरू कर दिया है। मेरा तीसरा उपन्यास दो-तिहाई खत्म हो चुका है। मेरी कलम मेरे पास है। मेरी अभिव्यक्तियां लौट आई हैं। अब मैं अकेली नहीं हूं।

सत्यजित के पहलू में बिताए हुए छः महीने मेरी आज तक की जिंदगी की बेहतरीन उपलब्धि है। मैं कह सकती हूं, खुशी मैंने जानी है, भोगी है।

सौंदर्य मैंने देखा है, परखा है। इंसाफ की हकदार मैं हूं।

"प्रेम क्या है ?" एक बार सत्यजित ने पूछा था।

"किसीकी अत्यधिक चाहत।" मैंने कहा।

"किसीसे क्या मतलब ? उस दिन रेस्तरां की एक मेज़ आपको अच्छी लगने लगी। क्या आप कह सकती हैं, आपको उससे प्रेम हो गया ?" सत्यजित मुस्कराया था।

"किसीसे मेरा मतलब कोई आदमी।"

"आपने कभी प्रेम किया है ?"

"करना चाहती हूं।"

"यह जाने बगैर कि वह क्या है ?"

"आप बताइए, क्या है ?"

"मैं तो खुद ही आपसे पूछ रहा था।"

"आप इतनी सारी बातें जानते हैं, आपको यह नहीं पता ?"

"आप मदद करें तो पता लगा सकता हूं।"

उसके कमरे में होती तो ऐसे सवालों के जवाब के बतौर उसकी बांहों में समा जाती। कहीं बाहर बैठी होती तो ज़ोर से उसकी हथेली में चिकोटी भरती। सत्यजित कभी मुस्करा देता, कभी अपनी बड़ी-बड़ी गहरी आंखों से मुझे देखता रहता।

आज अगर सत्यजित मुझसे पूछे तो मैं कह सकती हूं, मुझे उससे प्रेम है; लेकिन उस दिन मैंने कहा : 'करना चाहती हूं।' सत्यजित से इस तरह की सीधी बात कहना मुश्किल है, हालांकि देव से वही बात मैंने कह दी थी। देव से कुछ भी कहा जा सकता था। वह एक आम भाषा समझता था। उसी तरह जवाब भी देता था, लेकिन सत्यजित की बात और थी।

किसी बात से छुटकारा पाने के लिए उसका सामना करना ज़रूरी होता है। देव मुझसे कुछ बात करना चाहता था। मैं उसे कई बार टाल चुकी थी। फिर एक दिन मुझे लगा, यह टालते रहने की अदा ठीक नहीं। मैंने उसे बिठा लिया।

देव बड़ी देर तक खामोश बैठा रहा। मेरी ओर उसने बहुत कम

देखा। इधर-उधर की बातचीत करके मैंने माहौल बनाने की कोशिश की, लेकिन देव पर इसका कोई असर नहीं पड़ा। उसका इस तरह बैठना मुझे बुरा लग रहा था। बिना किसी अपराध के मैं अपराधी साबित हो रही थी।

"कुछ बात करना चाहते थे देव! ऐसा क्या हो गया कि मुझसे कुछ कहने के लिए भी तुम्हें सोचना पड़ रहा है?" सत्यजित की सिफारिश पर अपनी सहानुभूति उसे देने की गरज से मैंने कहा था।

देव ने मेरी ओर देखा। देखता रहा।

"इसे मैं अपनी हार मान लूं ऐसा मेरा दिल नहीं कहता।" उसकी आवाज़ में दर्द था: "लेकिन रीना, मैं जानना चाहता हूं, ऐसा तुमने क्यों किया?"

"मैंने तुम्हें किसी अंधेरे में नहीं रखा देव! इतना काफी नहीं है?"

"मेरी कमी?"

"तुममें कोई कमी नहीं देव! लेकिन तुम्हें मुझसे शिकायत नहीं होनी चाहिए।"

"तुम्हारे इनकार पर मैं तुम्हारा शुक्रगुज़ार होऊं?"

"इनकार पर न सही, मेरी साफगोई के लिए तो तुम्हें मेरा शुक्रगुज़ार होना ही चाहिए।"

"तुम्हारा क्या खयाल है, मैं यूंही बार-बार तुम्हारे पास आता रहा हूं?" उसने अपनी सफाई पेश की।

"मैं तुम्हें क्या बताऊं? एक बार तुमसे कहा था, कुछ घटनाएं इस तरह से घटित न हुई होतीं तो तुम्हें स्वीकार करना मैं अपना सौभाग्य समझती देव, तुम मुझे यह कहने पर बार-बार मजबूर क्यों करते हो?"

"उन कुछ घटनाओं का महत्व इतना ज़्यादा हो गया कि इतने सालों की दोस्ती तुमने बालाएताक रख दी?" देव भावुक होने लगा। शायद आंसू का आवेग रोकने की कोशिश में उसकी आंखें सुर्ख हो गई थीं। मैंने उसे बोलने दिया।

"रीना···एक बार उन दिनों को याद करो, जब हम साथ-साथ कॉलेज में पढ़ते थे। हमारी सुबह-शामें साथ होती थीं। हमारे दिन-रातों में कोई फर्क नहीं था। जब इलाहाबाद की सड़कों पर हम स्वच्छंद घूमते थे, रेस्त-

रातों में तुम हमेशा मेरे साथ होती थीं। एक बार···सिर्फ एक बार याद करो, जब मेरी बांहों में आकर तुम···खुद को भूल जाती थीं···वही देव आज पराया हो गया ? तुमसे एक अदद मुलाकात के लिए कितने दिनों से चक्कर लगा रहा हूं ! ···खुद को तुमपर थोपना नहीं चाहता रीना···मैं ···मैं खुद ही···" मेरे लिए सहना मुश्किल होने लगा। देव की बातों का कोई अंत नहीं था। वह खामोश रहकर भी बहुत कुछ कह रहा था। देव···हमेशा से हंसने-मुस्कराने वाले देव की यंत्रणा देखकर उस दिन मैं भी बेचैन हो उठी थी।

न जाने कितने खामोश पल जब बीत गए, तब उठकर मैं उसके पास गई। मैंने उसका हाथ अपने हाथ में ले लिया।

"खुद को दुखी मत करो देव ! मैंने तुम्हें दुःख पहुंचाने के लिए कुछ नहीं किया। तुम जानते हो। मुझे समझते भी हो। हमें एक-दूसरे के प्रति ईमानदार रहना चाहिए देव ! वही सबसे बड़ी चीज़ है। मैं क्या करूं··· और सच पूछो तो कभी-कभी मुझे खुद हैरानी होती है। घटनाएं कितनी तेजी से घटी हैं ! मैं सिर्फ एक बात जानती हूं। मैंने तुमसे जो कुछ कहा है, ठीक कहा है। मैं तुम्हारे प्रति गैरवफादार नहीं हो सकती थी देव !"

देव सोफे के नीचे बिछी हुई कालीन पर बैठ गया। अपना चेहरा मेरे घुटनों पर रख दिया। उसने अपनी आंखें बंद कर लीं।

मेरी उंगलियां उसके बालों में उलझ गईं। मेरी आंखें नम हो आई थीं।

काफी देर बाद देव स्वस्थ हुआ। मैंने उसे कॉफी बनाकर दी।

"सत्यजित के साथ तुम खुश हो ?" उसने पूछा।

मैंने देव को गौर से देखा। वह पूरी तरह शांत था।

"हां, देव !" मेरी पलकें नीचे झुक गईं।

"शादी की खबर मुझे दोगी ?"

"शादी ?" अचानक मेरे मुंह से निकल गया। सत्यजित के साथ अपनी शादी की बात मैंने कब सोची थी ? और सत्यजित ने भी इस दिशा में कहां सोचा था ? कम से कम मैं नहीं जानती थी। मेरे-उसके बीच इस तरह की बात की कोई अहमियत नहीं थी जैसे।

मैं जानती थी, सत्यजित को इस तरह के सवाल करने की आदत है। शुरू-शुरू में तो इस तरह के सवाल सुनकर मैं अपने दिमाग के दरवाज़े खटखटाने लगती। वाद में मैं समझ गई, सत्यजित आदतन ऐसे सवाल करता है। जानता है, इसका कोई समुचित उत्तर नहीं मिल सकता, फिर भी दूसरों को चक्कर में डालता है। उसे मज़ा आता है।

"आप यह कहना चाहती हैं कि आधुनिकता की कोई परिभापा नहीं बनती?"

"वनती भी हो तो मैं नहीं वना सकती।"

"आपके दर्शनशास्त्र में आधुनिकता के लिए कोई जगह नहीं?"

"होगी, मुझे नहीं मालूम।"

"अच्छा, परिभापा छोड़िए। इसकी व्याख्या तो कर सकती हैं?"

"मुझसे ज़्यादा आप कर सकते हैं।"

"मैं तो विज्ञान का विद्यार्थी हूं।"

"कुछ दूसरी तरह के कीड़े भी आपके दिमाग में रेंगते रहते हैं।"

सत्यजित हंसने लगा। उस शाम पूरे समय हम आधुनिकता की व्याख्या करते रहे। तीनों विशेप संस्कृतियों का हवाला दिया गया। इनमें प्रवाहित होने वाले सवसे ज़रूरी तथ्य ढूंढ़े गए। तमाम लेखा-जोखा करने के वाद हम इस नतीजे पर पहुंचे कि आधुनिकता का सीधा संवंध समाज से है। जिस समाज में आपसी पारस्परिकता वढ़ाने की जितनी ज़्यादा प्रवृत्ति होगी, वह समाज उतना ही ज़्यादा आधुनिक होगा।

"यह तो हुई समाज की वात। व्यक्ति की वात लीजिए। किस व्यक्ति को आप आधुनिक मानेंगी?" सत्यजित ने फिर सवाल किया।

"उस व्यक्ति को, जो रूढ़ियों से अलग हटकर नई स्थापनाएं कायम करता है।"

"ये स्थापनाएं भी तो प्रयोग में आते-आते रूढ़ि वन जाती हैं।"

"तव इनकी आधुनिकता समाप्त हो जाती है। फिर नई स्थापनाएं होती हैं और यही क्रम चलता रहता है।"

"आपका मतलव आधुनिकता जमकर रहने वाली कोई चीज़ नहीं है?"

"जमकर रहने वाला तो इस दुनिया मे कुछ भी नहीं है।"
"अच्छा, भाषा कैसे आधुनिक समझी जा सकती है ?"
"अभी जिस पारस्परिकता की बात हम कर रहे थे, उसके प्रभाव को व्यक्त करने की जितनी ज्यादा क्षमता किसी भाषा में होगी, वह भाषा उतनी ही आधुनिक समझी जाएगी।"
"आपकी दृष्टि में दुनिया की कौन-सी भाषा आधुनिक समझी जा सकती है ?"
"अंग्रेज़ी।"
"कैसे ?"
"आपने ही एक दिन कहा था, दिमाग की एक स्थिति को व्यक्त करने के लिए उसमें चालीस से भी ज्यादा अलग-अलग शब्द है।"
"आप खुद को आधुनिक मानती है ?"
"मानूं भी तो क्या फर्क पड़ता है ! आपका अपने बारे में क्या खयाल है ?" सत्यजित ने हमेशा की तरह विषय बदल दिया।

मेरी-उसकी बातें दिनोदिन दार्शनिक होती गई। सौंदर्य, न्याय, प्रेम, क्रोध, घृणा जैसे विषयों पर हम देर-देर तक बातें करते। कभी-कभी विषयों की नीरसता मुझे उबाने लगती, लेकिन सत्यजित के सामीप्य की कीमत मुझे देनी थी। मैं उन विषयों पर बड़े उत्साह से बात करती। सच तो यह था कि धीरे-धीरे उन विषयों पर एक रिकॉर्ड-सा बनने लगा था मेरे दिमाग में।

"आपके बारे में कोई राय कायम करना बड़ा मुश्किल है।" सत्यजित कभी-कभी कहता।
"इतनी उलझी हुई तो मैं नहीं हूं।"
"मैंने कब कहा, आप उलझी हुई हैं !"
"फिर क्या मुश्किल है ?"
"यह तो मैं नहीं जानता।"
"जानते नहीं या बताना नहीं चाहते ?"

"शक आपका पीछा नहीं छोड़ेगा।"

"पैदा किसने किया है ?"

सत्यजित चुप हो जाता। कुछ देर हम वैसे ही बैठे रहते, फिर हमारे मन में एक हलकी झुरझुरी होती। कभी हम एक-दूसरे की ओर देर तक देखते रहते। कभी एक-दूसरे के बेहद पास होते। सत्यजित अपनी दोनों हथेलियों में थामकर मेरा चेहरा ऊपर उठाता तो मुझे लगता, चांद और सूरज को छू लेना कोई बड़ी बात नहीं। अपनी सुदृढ़ बांहों में भरकर मेरे होंठ चूम लेता तो मुझे लगता, आसमान के तमाम सितारे मेरी राहों में बिखर गए हैं। इस दुनिया में सिर्फ मैं हूं, मेरा सत्यजित है और सब कुछ बेमानी है, झूठ है···।

सत्यजित से मुझे प्रेम है, यह बात साफ-साफ मैं उसको कभी नहीं कह पाई। देव पहली बार जब मेरी जिंदगी में आया, मैंने यह बात उससे कही थी। अमित के सामने यह स्वीकार करने में मैंने थोड़ा समय लगाया था, लेकिन सत्यजित के सामने यह कहना बड़ा मुश्किल था। उसके दिमाग में प्रेम की परिभाषा क्या है, मैं आज भी नहीं जानती। प्रेम क्या है, यह कई बार मैं उससे कह चुकी थी, नहीं जानती। और जो बात मैं जानती नहीं, उसके होने न होने का एहसास मुझे कैसे हो सकता था! दूसरी बात एक और थी। मेरे दो बार जोड़े हुए प्रेम के रिश्ते असफल हो चुके थे, शायद इसीलिए तीसरी बार मैं उसे छूना नहीं चाहती थी। मेरा मन अंधविश्वास के थपेड़ों में उठता-मारता रहता।

सत्यजित के साथ अपने संबंध को मैं कोई संज्ञा नहीं दे पाई। मन भटकता रहा···

"मेरे-आपके संबंध को क्या नाम दिया जा सकता है?" एक दिन मैं पूछ बैठी।

"नाम देना ज़रूरी है?"

"समाज में रहना है तो कोई नाम तो चाहिए?"

"आपने एक दिन कहा था, आपका कोई समाज नहीं?"

"ओ, तो बातें आपको याद रहती हैं ! आप तो कहते हैं, दिन-भर की बातें आप सोते समय भूल जाते हैं। हर दिन आपका नया दिन होता है।"

"यह संघर्ष याददाश्तों का है, इसमें पड़कर अपना वक्त हम क्यों ज़ाया करें ?"

सत्यजित का गंभीर चेहरा एक बार मुस्कराया, फिर गंभीर हो गया था।

सत्यजित से मेरी मुलाकातें ज्यादातर उसके घर पर होतीं। एक-आध बार मैंने उसे अपने घर पर बुलाना चाहा, लेकिन उसने बड़े प्यार से मना कर दिया। सत्यजित ने ऐसा क्यों किया, तब मेरी समझ में नहीं आया था। अब सोचती हूं, अपने ढंग से उसने जो कुछ किया ठीक ही किया। अपनी ज़िंदगी के उसके अपने मूल्य थे। भविष्य की अपनी आस्थाएं थीं। मेरी तरह बगैर सोचे-समझे उसने कोई कदम नहीं उठाया था और सच तो यह है कि उसने कोई कदम उठाया ही नहीं। इसीलिए तो वह हर तरह से संतुलित है। ज़िंदगी का एक फैसला करने के लिए उसे शहर छोड़कर भागने की ज़रूरत नहीं। अपने को सबसे काटकर अलग रखने की कोई दरकार नहीं। जिससे खुद को काटने की ज़रूरत उसने समझी, पहले ही काट दिया, ताकि आगे की ज़िंदगी अपने ढर्रे पर निश्चिंत होकर चला सके।

तो क्या उसके मन में कोई ऊहापोह नहीं ? उससे कुछ कहे बगैर मैंने शहर छोड़ दिया। ऑफिस में इलाहाबाद का स्थायी पता ज़रूर है, लेकिन किसी को नहीं मालूम, मैं कहां हूं। चिट्ठियां वहां से होकर मेरे पास आ सकती थीं, लेकिन मैंने जानबूझकर ऐसा नहीं किया। जानती हूं, देव की कई चिट्ठियां मेरे नाम आई होंगी। क्या सत्यजित ने भी लिखा होगा ?

मन नहीं मानता। कभी-कभी हवा में उड़कर सत्यजित के पास पहुंच जाना चाहती हूं। एक बार उससे कह देना चाहती हूं, 'मुझे तुम्हारी सारी शर्तें मंजूर हैं। तुमने मुझे ज़िंदगी दी है, अंधेरे की गहरी पर्तों से निकालकर रोशनी में खड़ा किया है, तुम्हारे नज़दीक दो इंच ज़मीन मेरे लिए महंगी नहीं पड़नी चाहिए।'

लेकिन जानती हूं, सत्यजित के लिए ये बातें कोई मायने नही रखतीं। वह सोचेगा, भावुकता में मैं सब कुछ कर रही हूं। मेरा विवेक मर गया है।

सत्यजित का विवेकशील मस्तिष्क मेरी बातों को भावुकता से ज़्यादा कुछ नहीं मानता। वह खुद कम भावुक नहीं है, लेकिन उसने भावुकता और विवेक दोनों को इस तरह पटाया है कि उसकी सारी मुश्किलें अपने-आप आसान हो जाती हैं।

"भावुकता में उठाए हुए कदम अकसर कच्चे होते हैं।" एक बार उसने कहा था।

"इसका मतलब है, इस डर से कदम उठाए ही न जाएं!" मैं झुंझला पड़ी थी।

झुंझलाहट के कई मौके पहले भी आए थे, लेकिन प्रशांत महासागर की तरह गंभीर उसके चेहरे पर अपनी झुंझलाहट की कोई प्रतिक्रिया मैं कभी देख नहीं पाई।

सत्यजित ने मेरी भावुकता देखी है। जिस दिन मेरे विवेक पर उसे विश्वास हो जाएगा, उस दिन वह मेरे पास होगा। ज़िंदगी को सामाजिक संज्ञा न मिले, मुझे उसकी कमी का एहसास नहीं होगा।

एक बार खुद को अच्छी तरह समझने और पहचानने के बाद जब मैं उससे मिलूंगी, तब शायद यह कहने में मुझे संकोच होगा कि लगता है, आपसे अलग मेरी अहमियत खत्म हो गई है।

हमेशा की तरह यह कहने की ज़रूरत उसे नहीं पड़ेगी : 'ये आसार अच्छे नहीं हैं।'

तब हम साथ होंगे। उसे खेलने के लिए जिस्म नहीं, बात करने के लिए एक खूबसूरत दिमाग चाहिए। जिस्म की भूख कहीं भी मिट सकती है। दिमाग की भूख जिस्म नहीं मिटा सकता।

देव के लिए अकसर मन भारी हो जाता है। उसमें कोई कमी नहीं थी। सत्यजित ने धीरे-धीरे मेरे दिमाग पर दस्तक न दी होती तो देव के साथ मैं सुखी रह सकती थी। ज़िंदगी के ऐशो-आराम से अलग, समाज की

मान-प्रतिष्ठा से दूर क्या सत्यजित की वही दिमागी भूख मेरे अंदर काम नहीं कर रही थी, जब मैंने देव का प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया ?

कौन जाने, कौन कहे ?…

देव ने पुराने संबंधों का हवाला कभी नहीं दिया था। मिला तो बड़े आत्मीय, लेकिन औपचारिक ढंग से। सत्यजित से मेरी शादी के प्रति अपनी उत्सुकता जाहिर करके उसने मुझे उलझनों के नये जाल में फंसा दिया था। सत्यजित और अपने संबंध को एक संज्ञा देने के लिए मेरा मन बगावत करने लगा।

सत्यजित के बात करते समय घुमा-फिराकर मैं विषय सामने ला देती। शुरू-शुरू में काफी दिनों तक सत्यजित उसे टालता रहा। हर बार उसकी लापरवाही मुझे तराशती रही।…

उस दिन काफी अरसे बाद अपने पुराने अड्डे पर हम कॉफी पीने गए थे। ऑफिस के बाद वहीं पर मिलने की बात तय हुई थी। सुबह से मन कुछ भारी था।

"एक बात पूछना चाहती हूं।" कॉफी के प्याले सामने आ गए तो बगल में बैठी मैं जरा तिरछी होकर सत्यजित की ओर घूम गई।

"पूछिए।"

"शर्त एक ही है।"

"बताइए।"

"जवाब बिलकुल साफ और सीधा होना चाहिए।"

"मैं क्या टेढ़े जवाब देता हूं ?" वह मुस्कराया।

"मजाक नहीं।"

"अच्छा, पूछिए।"

"मैं यह जानना चाहती हूं कि आपकी जिंदगी में मेरी जगह क्या है ?"

सत्यजित मेरी बात से चौंका नहीं। मुझे लगा, इस सवाल का इंतजार उसे था।

कुछ देर सीधे मेरी आंखों में देखता रहा। जब बोला तो जमाने-भर का दर्द उसके चेहरे पर उभर आया था :

"रीना," इस तरह की बातचीत के दौरान पहली बार मेरा नाम लेकर उसने मुझे बुलाया था : "मैं खुद भी इस विषय में तुमसे बात करना चाहता था।" उस दिन उसने मुझे पहली बार 'तुम' कहा था।

सारी हिम्मत बटोरकर मैं उसकी ओर देखती रही।

"मुझे लेकर तुमने न जाने क्या-क्या सोचा है। मैं उन बातों को भावुकता से ज़्यादा कुछ नहीं मानता। मैंने अपनी ज़िंदगी के कुछ मूल्य बनाए हैं। उनपर चलना चाहता हूं। तुम्हें अच्छा नहीं लगेगा, लेकिन सच्चाई मैं तुम्हें बता देना चाहता हूं। मैं तुमसे शादी नहीं करूंगा। क्यों? इसके कारण हैं। फिलहाल नहीं, लेकिन वक्त आने पर तुम्हें बता सकता हूं..."

वह कुछ और कहता, लेकिन न जाने क्यों मैं हंस पड़ी।

"बस, इतनी सी बात? मैंने कब कहा, आप मुझसे शादी कीजिए?" बेसाख्ता मेरे मुंह से निकला।

उसने मेरा हाथ अपने हाथ में लेकर दबाया।

"सच कह रही हो?" उसके चेहरे पर दर्द बरकरार रहा।

"मैं तुमसे झूठ बोली हूं?"

"शायद मैं ही गलत था। अब बोलो, मेरी ज़िंदगी में तुम्हें कौन-सी जगह चाहिए?" उसके चेहरे का दर्द गायब होने लगा।

"जगह? कैसी जगह?" मुझे पहली बार लगा, शराब पीने वालों को शायद ऐसा ही हलकापन महसूस होता है।

"तुमने किसी जगह की बात कही थी।"

"मैं तो तुम्हारा इम्तहान ले रही थी।"

मेरे हलकेपन में कोई कमी नहीं आई। कॉफी पीकर हम बाहर आए तो मेरा हाथ उसके हाथ में था। उसने अपनी घड़ी देखी।

"कई दिनों से तुम्हारा एक कर्ज़ है मेरे ऊपर। चलो, आज रामकृष्ण मिशन फिर चलते हैं।"

पहली बार वहां जाने के बाद से कई बार मैं फिर चलने की बात उससे कह चुकी थी और हर बार सत्यजित टालता गया था।

कनॉट प्लेस से रामकृष्ण मिशन का फासला पैदल भी तय किया जा

सकता है, लेकिन सत्यजित ने टैक्सी लेना पसंद किया।

टैक्सी वाले का नंबर बड़ी देर बाद आया था। इतने नज़दीक जाने के लिए वह राज़ी नहीं हुआ। सत्यजित को बहस-मुबाहिसे में पड़ते हुए मैंने उससे पहले कभी नहीं देखा था।

रामकृष्ण की मूर्ति के सामने हम एक बार और खड़े हुए थे।

हमने उस ढाबे में बैठकर चाय भी पी। उस दिन चाय लौंग-इलायची डालकर पंजाबी ढंग से नहीं बनी थी।...

उस दिन सत्यजित का घूमने का मन था। बड़ी देर तक हम सड़कों का चक्कर काटते रहे।

सुबह का भारीपन न जाने कहां चला गया था।

रात ग्यारह बजे कनॉट प्लेस से घर के लिए टैक्सी ली। उस रात मैं उसके घर नहीं गई।

टैक्सी उसके घर के सामने छोड़ दी गई। हमेशा की तरह मुझे उसके साथ जाना चाहिए, लेकिन जब वह मुड़कर चलने लगा तो मैंने उसका हाथ पकड़ लिया।

"मेरे सिर में आज सुबह से दर्द है। मुझे घर तक छोड़ दो।"

"आज मेरे यहां नहीं चलोगी?"

"आज नहीं।"

इस तरह के जवाब की उम्मीद नहीं थी उसे। वह पल-भर मेरी ओर देखता रहा, फिर मेरे घर की ओर चल पड़ा।

जब मैं फाटक से अंदर दाखिल होने लगी तो जेब से निकालकर कोडोपाइरिन की दो गोलियां देते हुए उसने कहा :

"सोने से पहले इन्हें खा लेना।"

१०

सहन का दरवाज़ा अंदर से बंद करके मैं अपने सोने के कमरे में आई। यह वह कमरा नहीं था, जिसमें मैं सोया करती थी। आंखें बंद करके घंटों जिस बिस्तर पर पड़ी रहती थी, वह अपना नहीं था। कमरे

की एक-एक चीज़ बेमानी थी। एक-एक गुज़रे हुए लमहे अतीत के किसी गहरे खड्ड में पट गए मालूम पड़े। कहीं कोई नामोनिशान नहीं था। वर्तमान एक खाली रंगमंच की तरह मेरे सामने था, जिसका परदा उठ चुका था। दर्शक के नाम पर अकेली मैं थी। अकेली पात्र भी मैं ही थी। नाटक के सारे पात्र गुम हो चुके थे। चारों ओर खालीपन, गहरी नीरवता …कहीं कुछ भी नहीं।

कब तक मैं खड़ी रही, कब बैठ गई, मुझे याद नहीं। इतना याद है कि उस रात जो कुछ मैंने महसूस किया, वह पहले कभी नहीं किया था…

सत्यजित मुझसे शादी नहीं करेगा, यह बात कोई इतनी बड़ी नहीं थी। सत्यजित का फैसला सुनने के बाद देव को इनकार करने का अफसोस भी मुझे नहीं था। फिर क्या था, जो मेरी सारी चेतना को जड़ बनाता जा रहा था? अपने ही घर में मैं पराई नजर आ रही थी। अपनी ही चीज़ें मुझे बेगानी लग रही थीं।—एक ज़ीरो था, जो लगातार बढ़ता जा रहा था।

सत्यजित के साथ एक ज़िंदगी की बात मैंने सोची थी, इसमें संदेह नहीं; लेकिन क्या मैंने यह भी सोचा था कि वह साथ पति-पत्नी का ही हो सकता है? मुझे कोई भी ऐसा क्षण याद नहीं, जब मेरे मन में यह बात आई हो। सत्यजित को लेकर एक ही बात बार-बार मन में आई थी—उसके सामीप्य की।

क्या उसका शादी से इनकार मुझे बुरा लगा था? आज मैं जवाब दे सकती हूं। याद आया, एक बार मैंने उससे उसकी ज़िंदगी के चार दिन मांगे थे। उसने कारण पूछा था तो मैंने जवाब दिया था, 'दो दिन रोने और दो दिन सोने के लिए।'

तब मैं नहीं जानती थी, रोना मैं क्यों चाहती थी। आज लगता है, रोना मेरे लिए बेहद जरूरी था। अपने इस तीन कमरे की कॉटेज में आकर मुझे कई बार लगा, मैं रो पड़ूंगी; लेकिन सत्यजित कहां है? रोना मुझे उसके पहलू में था, उसकी गोद में था, उसकी बांहों के घेरे में था। उसके जिस्म के साये में जो आंसू आते, वे अकेले इस वियावान में कहां आ सकते थे? फिर रोकर क्या होगा…

आंसू नहीं आए हैं। मन रोया है तो मैं अपनी कलम लेकर मेज़ पर बैठ गई हूं। कागज़ों के ढेर रंग डाले हैं। फिर खाली होकर खिड़की पर खड़ी हो गई हूं।

पहाड़ की ढलान से ऊपर चढ़ती हर छाया मुझे चौंका जाती है। मेरे दरवाज़े पर कभी कोई दस्तक नहीं पड़ती। रामदीन मेरी हर सुख-सुविधा का खयाल रखता है। 'टाइगर' मेरा बॉडीगार्ड है। और क्या चाहिए?

छः महीने का एकांतवास, जो मैंने अपने ऊपर ओढ़ लिया है, एक दिन बीत जाएगा। हो सकता है, मैं वापस अपनी नौकरी पर लौट जाऊं। हो सकता है, हमेशा-हमेशा के लिए राजधानी का रेशमी आंचल मेरे हाथ से छूट जाए। लेकिन सत्यजित और उसके साथ बिताए हुए वे अंतरंग छः महीने क्या मेरे दिलो-दिमाग से उतर पाएंगे? अगर नहीं तो सत्यजित का कहा हुआ इंसाफ कहां है, जिसकी मैं हकदार हूं?

इंसाफ? मन को भुलावा देने का एक खूबसूरत खयाल···

"न्याय से आप क्या समझती हैं?" एक दिन उसने पूछा था।

"जिसकी लाठी उसकी भैंस से बढ़कर और भी कोई न्याय है दुनिया में?" मैं बोली थी।

"यह तो एक पुरानी कहावत है। मैं समझता हूं, हर व्यक्ति न्याय का हकदार है। उसको अपनी योग्यता, ज्ञान और अनुभव की सीमा में रहते हुए वह सब कुछ करने का हक होना चाहिए, जो वह अपने लिए करना चाहता है।"

"फिर तो एक अनार्की फैल जाएगी।" मुझे पापा से किए हुए अपने तर्क याद आए थे।

"क्यों? व्यक्ति के ऊपर भी तो कुछ नियम-कायदे होते हैं, उसे भी एक अनुशासन में रहना पड़ता है।"

"आपका मतलब समाज के नियम-कायदे से है?"

"समाज और सरकार को छोड़िए। मैं व्यक्ति की बात करता हूं। मसलन, आप जैसे उपन्यासकार बनना चाहती हैं। आपके अंदर प्रतिभा है, योग्यता है। अगर आपने इनका उपयोग नहीं किया तो खुद के साथ यह

आपकी बेइंसाफी होगी।"

"और मान लीजिए, जो मैं पाना चाहती हूं, मुझे नहीं मिला तो यह किसकी बेइंसाफी होगी ?"

"मिलेगा कहां से ? जो कुछ आप पाना चाहती हैं, उसकी कीमत आपको अदा करनी पड़ेगी।"

उस रात मन भटकता रहा, न जाने किन-किन कंदराओं में···

सत्यजित ने काफी दिनों से मेरे लिखने के बारे में कुछ नहीं पूछा था। उस दिन उसके मुंह से उपन्यासकार बनने की बात सुनकर मैं चौंक पड़ी।

"इधर आपने कभी पूछा नहीं, मैं क्या लिख रही हूं ?"

"जानता हूं, आप कुछ लिख नहीं रही हैं।"

"कैसे ?"

"इलहाम हुआ था।"

"आप सोचते हैं, मैं लिख नहीं सकती ?"

"नहीं। मैं जानता हूं, एक दिन आप लिखेंगी।"

"और जब मैं लिखूंगी, आपको पता चल जाएगा ?"

"मैं कोई जादूगर हूं ?"

"जादूगर न सही, इलहाम तो हो सकता है आपको।"

"जब होगा और आप जानना चाहेंगी, बता दूंगा।"

"आपको पता है, पहली रात जब मेरे कमरे में आकर सो गई थीं, आप कैसी लग रही थीं ?"

"कैसी लग रही थी ?"

"उस अप्सरा की तरह जिसे किसी अपराध की सज़ा में स्वर्ग से नीचे फेंक दिया गया हो।"

"आपको दया आई थी मुझपर ?"

"नहीं।"

"फिर···कैसा लगा था ?"

"जो कुछ भी लगा, उसके लिए मैं तैयार नहीं था।"
"कुछ कहा क्यों नहीं ? मुझे रोक दिया होता।"
"आपसे ऐसे ही कुछ की उम्मीद थी मुझे, रोक नहीं सकता था।"
"क्यों ?"
"आप चुनौती बनकर मेरे सामने थीं।"
"चुनौती स्वीकार करना जरूरी नहीं था।"
"इनकार करना भी नामुमकिन था।"

"पहली रात तुम्हारी आंखों में कुछ देखा था। ऐसा कुछ...।"
"क्या देखा था ?"
"एक रोशनी।"
"कैसी रोशनी ?"
"बयान नहीं कर सकता।"

"प्यार की भी एक रफ्तार होती है।"
"मतलब ?"
"एक रफ्तार तुम्हारी, एक मेरी। तुम्हें क्या पसंद है ?"
"दोनों।"
"एक जवाब दो।"
"दिया तो···मूड पर निर्भर करता है।"

"कभी एल० एस० डी० खाई है ?"
"तौबा, कैसी बातें कर रहे हो ?"
"बिना खाए एल० एस० डी० का नशा जानना चाहोगी ?"
"कैसे ?"
"बताऊंगा।"
"अभी क्यों नहीं ?"
"अभी नहीं···फिर कभी···।"
खामोशी···

"काश, तुम पांच साल पहले मिली होतीं।"

"उठो, 'मॉर्निंग वाक' का समय हो गया । उधर से तुम्हें छोड़ता आऊंगा।"

"आज मेरे घर चलो।"

"अहमियत साथ रहने की है या मेरे और तुम्हारे घर की ?"

"लगता है, इस ज़िंदगी में तुम किसी दूसरी लड़की के पास जाने नहीं दोगी।"

"घबराओ नहीं ! तुम्हारे रास्ते का रोड़ा नहीं बनूंगी।"

"ऐसा कभी हुआ तो क्या करोगी ?"

"हमेशा के लिए तुम्हारे रास्ते से हट जाऊंगी।"

"और मैं तुम्हें ढूंढ़ता फिरूंगा ?"

"क्यों ? वह लड़की नहीं होगी तुम्हारे पास ?"

"तुम तो नहीं होगी।"

"मुझे आपका इतना इंतज़ार क्यों रहता है ?"

"यही मैं भी सोचता हूं।"

"आपने किसीका इंतज़ार किया है ?"

"किया है।"

"किसका ?" दिल की धड़कन सामान्य से कुछ तेज़ हो गई थी।

"एक गाडेस थी मेरी।"

"कहां है अब ?"

"होगी कहीं।"

"आपको पता नहीं ?"

"हो भी सकता है।"

"बताना नहीं चाहते ?"

"बताने को है क्या उसमें ?"

"कभी याद आती है ?"

"अब नहीं आती।"

"आ सकती है?"

"पता नहीं। अब तो लगता है, आप उसके बारे में सोचने भी नहीं देंगी।"

"अफसोस होगा?"

"नहीं···"

"कितनी बार कहना होगा कि मुझे आपका हर घड़ी, हर पल इंतजार रहता है?"

"क्यों रहता है? हम रोज मिलते हैं।"

"फिर भी रहता है।"

"आज तक इस तरह मेरा इंतजार किसीने नहीं किया।"

"आपकी 'गाडेस' ने भी नहीं?"

"उसने नहीं।"

"कोई दूसरी भी है?"

"हो भी सकती है।"

"सोच नहीं पाती, आपसे अलग जिंदगी का एक दिन भी कैसे बीतेगा?"

"दिन तो बीत ही जाते हैं।"

"मेरे नहीं बीतेंगे।"

"आपको लगता है ऐसा।"

"मेरी बात पर आपको भरोसा नहीं?"

"आपकी भावुकता पर मुझे शक नहीं।"

"लगता है, आपको पाकर सब कुछ पा गई हूं।"

"आदमी सब कुछ कभी नहीं पाता।"

"मैं पा गई हूं।"

"आप जरूरत से ज्यादा भावुक हैं।"

"अपनी जिंदगी के चार दिन, जो आप मुझे देने वाले हैं, कुछ ज्यादा

नहीं हो सकते ?"

"यह ज़्यादती है आपकी। बात तय हो चुकी है।"

"ज़्यादती ही समझ लीजिए।"

"क्या करेंगी ज़्यादा दिन मेरे पास रहकर ?"

"दिन-भर वहशियों की तरह घूमूंगी और रात-भर बातें करूंगी।"

"सोने नहीं देंगी ?"

"नहीं।"

"फिर तो चार दिन के बारे में भी सोचना पड़ेगा।"

"मेरे साथ की ज़िंदगी रास आएगी आपको ?"

"क्यों नहीं आएगी ?"

"आ भी सकती है। एक शर्त है।"

"क्या ?"

"रोज़ मुझे आठ घंटे सोने देंगी आप।"

"कोई वायदा नहीं।"

"आपकी ओर से या मेरी ओर से भी ?"

"मेरी ओर से।"

"और मेरी ओर से ?"

"पक्का वायदा।"

"देव को इनकार करके आपने अच्छा नहीं किया।"

"कारण ?"

"देव आपको जो दे सकते हैं, मैं नहीं दे सकता।"

"क्या दे सकते हैं देव मुझे ?"

"आप जानती हैं।"

"मुझसे ज़्यादा शायद आप जानते हैं।"

"हो सकता है।"

"लेकिन मुझे नहीं चाहिए वह सब।"

"शायद…"

"देव आपको चाहते हैं।"
"मैं भी आपको चाहती हूं।"
"दोनों स्थितियों में फर्क है।"
"क्या फर्क है ?'
"वहां आपको पाना है, यहां आपको देना होगा।"
"कोई कंजूसी हुई है मुझसे ?"

"'समर्पण' शब्द कभी सुना है ?"
"सुना तो है, लेकिन मेरे कोश में इसके लिए कोई जगह नहीं।"
"इस तरह की कोई चीज आपको मिल जाए तो ?"
"मैं उसका क्या करूंगा ?"
"फेंक देंगे ?"
"फेंक तो नहीं सकता, लेकिन उसका उपयोग क्या है ?"
"आप जो चाहें।"
"इस तरह की किसी चीज का उपयोग मैं कर नहीं सकता।"
"आपके लिए वह बोझ तो नहीं बनेगी ?"
"बन भी सकती है।"
"फिर आप उसका क्या करेंगे ?"··· (खामोशी) ···

"आप जिन्दगी में क्या करना चाहती हैं ?"
"आपका साथ मिला तो कुछ भी कर सकती हूं।"
"वरना ?"
"जिन्दगी की लाश ढोते-ढोते एक दिन मर जाऊंगी।"
"यह तो कोई बात नहीं हुई। जिंदगी का एक उद्देश्य होना चाहिए।"
"है तो।"
"क्या ? '
"आप।"

"आदमी का स्वार्थी होना आप किस हद तक सही मानती हैं ?"

"जिस हद तक वह दूसरों को तकलीफ न पहुंचाए।"

"यह क्या बात हुई ? मेरी अपनी ज़िन्दगी है। अपने ढंग से मैं उसे जीना चाहता हूं। मान लीजिए, इससे आपको तकलीफ होने लगे ?"

"अगर मैं आपके लिए एक अजनबी हूं तो ठीक है, मेरी तकलीफ को गोली मारिए। अपनी जिन्दगी अपने ढंग से जीते रहिए। लेकिन मेरे लिए अगर आपके मन में जगह है तो आपको अपना ढर्रा थोड़ा बदलना होगा।"

"क्यों ?"

"इसलिए कि उससे मुझे आराम मिलेगा।"

"फिर चाहे उस आराम के लिए आपको मेरा एहसास ढोना पड़े ?"

"अपनों के लिए कुछ करना भी एहसान होता है ?"

" 'एहसान' शब्द न कहिए, लेकिन होता ऐसा ही कुछ है।"

"कैसे ?"

"माता-पिता इस दुनिया में लाते हैं हमें। उनका एहसान है हमपर। बदले में न जाने कितनी तरह की ज़िम्मेदारियों का बोझ हमें उठाना पड़ता है। न चाहते हुए भी हम उन्हें झेलते हैं। पत्नियां हमारे बच्चों की मां होती हैं, इसलिए हमें उन्हें ढोना पड़ता है। एक बार आपको किसीसे 'प्रेम' हो जाए तो उस 'प्रेम' का बोझ आपके सिर पर आ जाता है, किसी की ओर आंख उठाकर आप देख भी नहीं सकते।"

"तो असली बात कहिए न। हर तरह की आज़ादी के कायल हैं आप ?"

"मैं अपनी बात नहीं कर रहा। मैंने तो अपनी ज़िन्दगी की एक रूप-रेखा बना ली है। मैं कहना चाहता था कि हर व्यक्ति के लिए स्वार्थी होना ज़रूरी है। अगर वह अपने स्वार्थ की बात नहीं सोचता तो किसीके लिए कुछ भी नहीं सोच सकता।'

"मेरे-आपके बीच कहीं प्रेम जैसी कोई चीज़ तो घर नहीं कर गई है ?"

"पता नहीं; लेकिन आप तो जानती नहीं, प्रेम क्या चीज़ है ?"

"आपसे मिलने के पहले दो बार लगा था, जानती हूं।"

"और अब तीसरी बार लगना शुरू हो रहा है ?"

"नहीं। भ्रम हो रहा है।"
"मिटा दीजिए। 'प्रेम' को परिभाषित करना बड़ा मुश्किल है।"
"असम्भव तो नहीं?"

"बुरा न मानें तो एक बात कहूं?"
"कहिए।"
"मुझमें डूबकर आप दिनोदिन खुद को भूलती जा रही हैं।"
"इसमें आपका क्या नुकसान है?"
"सोचकर देखिए।"
"सोचकर क्या देखूं? भूल मैं खुद को रही हूं। आपसे भूलने के लिए तो मैंने नहीं कहा?"
"आपका खुद को इस तरह भूलना मुझे अच्छा नहीं लगता।"
"आपका नुकसान क्या है?"
"आपको मैं आपके 'फ्रेम' में देखना चाहता हूं, अपने 'फ्रेम' में नहीं।"
"आपको डर है, कहीं मुझे ढोना न पड़े?"
"नहीं। मैं खुद को अपराधी नहीं मानना चाहता।"
"मैं खुद को भूल गई तो आप अपराधी कैसे बने?"
"और कौन बनेगा?"
"मैं खुद बनूंगी।"
"आप जब अपनी खुदी को ही मुझमें मिला देंगी तो आपके पास अपना क्या रह जाएगा?"
"आप कहना क्या चाहते हैं?"
"यही कि आप अपने बारे में पहले सोचें।"
"तो क्या मैं आपके बारे में सोच रही हूं?"

"आप लिखना कब शुरू करेंगी?"
"क्या होगा लिखकर?"
"नाम होगा, शोहरत होगी।"
"आप मेरे पास हैं, सारी जिन्दगी भी मैं कुछ न लिख पाऊं तो मुझे

अफसोस नहीं होगा।"

"यह एक अलग वात है।"

"आपको पाने के वाद कुछ करने या पाने की तमन्ना नहीं रही।"

"मैंने आपको इतना जड़ वना दिया है?"

"इतना दे दिया है कि मैं भर कई हूं।"

"यह आपकी भावुकता है।"

"कुछ भी हो, मुझे अच्छा लगता है।"

"किसी दिन यह अच्छा लगना वन्द भी हो सकता है।"

"उसके वाद रीना इस दुनिया में नहीं रहेगी।"

"और मेरे सिर एक दूसरा कलंक आएगा।"

"इतनी भावुकता ठीक नहीं रीना, होश में आओ।"

"तुम्हें पाने के वाद होश में कौन रह सकता है?"

"तुम चाहती हो, मैं कहीं चला जाऊं?"

"कहां जाओगे?"

"कहीं भी।"

"कहां?"

"हिमालय की कोई भी कंदरा मुझे छिपा सकती है।"

"रीना वहां भी तुम्हारे साथ होगी।"

'खटाक्' की आवाज़ पर मैं उठ खड़ी हुई थी। कमरे का दरवाज़ा हवा के तेज़ झोंके से अपने-आप वंद हो गया था। याद आया, शाम से ही आसमान में हलके-हलके वादल उभरने लगे थे। घड़ी पर निगाह गई, सवा चार।···रात वीत गई थी।

मैंने कमरे में निगाह दौड़ाई। कोई पहचान नहीं थी। न जाने किस मंत्र से सम्मोहित मैं अपनी मेज़ के पास पहुंची।

इसी मेज़ पर वैठकर मैंने 'चक्रवात' के पन्ने वार-वार पढ़े थे। टाइप की गलतियां ठीक की थीं। इसीपर वैठकर मैंने 'शिकन' लिखा था। कुछ कहानियां, कुछ लेख। सत्यजित पर आधारित उपन्यास के पन्ने भी यहीं

लिखे और फाड़े गए थे।

दराज खोलकर मैंने उस उपन्यास की पांडुलिपि बाहर निकाली, जो मैं प्रकाशक से वापस लाई थी। उलट-पलटकर देखा, देखती रही···

बाहर आसमान में बिजली कौंधी। दिमाग का एक दरवाज़ा खुला। मंत्रमुग्ध मैं पांडुलिपि देखती रही। 'सौगात' नाम रखा था मैंने।

हवा का एक ठंडा झोंका कमरे में आया।···

बारिश शायद शुरू हो गई थी।···

पांडुलिपि लाकर मैंने पलंग पर सिरहाने रख ली। कमर सीधी करने की गरज से लेट गई।

तो सारी रात मैंने बैठकर गुजार दी।

सत्यजित मुझसे शादी नहीं करेगा। मुझे वह मेरे अपने 'फ्रेम' में देखना चाहता है।

क्या है वह फ्रेम? कैसा फ्रेम? मुझसे ज्यादा अहमियत उस फ्रेम की है?

रीना···

एक मामूली-सी लड़की। पिता की शक्ति···मां की ममता में पगी···

देव के साथ प्रेम। इलाहाबाद की सड़कें। साथ जीने-मरने के वायदे··· फिर अलगाव···मन को तोड़ने वाला अकेलापन···

अमित?···

किसका अमित?···

षड्‌यंत्र···अमित का उपन्यास···रीना के नाम···

रीना?···

"माफ करना, कभी-कभी मुझे यूं ही हंसी आ जाती है।" फिर थोड़ी देर बाद : "देव तुम्हारे लिए नहीं था रीना! तुम्हारे लिए मैं ···मेरी ओर देखो···दुनिया की तमाम खुशियां तुम्हारे आंचल में भर दूंगा। मैं··· अमित···तुम्हारा अमित···

"देव एक सपना था, जिसे टूटना था, क्योंकि उसके रास्ते में मैं था। मेरे रहते वह तुम्हें पा नहीं सकता था। मैं सपना नहीं हूं। हमारा जन्म ही

एक-दूसरे के लिए हुआ है···हमारा एक घर होगा···हम होंगे···।"

मुद्दत बाद उस दिन अमित से मुझे डर नहीं लगा।

'चक्रवात' अगर मेरे नाम से छप गया तो इसमें कोई खास बात नहीं थी। आखिर अमित भी तो यही चाहता था।

काश, अमित ज़िन्दा रहा होता···लेकिन तब सत्यजित कहां होता?

अमित और सत्यजित···

अमित के साथ मैं एक घर बसा सकती थी।

वह घर तो देव के साथ भी बसाया जा सकता था।

क्या वाकई मैंने यही चाहा था?

फिर देव को मना करने का क्या कारण हो सकता है?

और सत्यजित का इनकार मुझे एक ऐसे तूफान के सामने क्यों खड़ा कर रहा है, जहां दिन-रात की अहमियत बेमानी हो जाएगी···

सत्यजित के लिए मैं एक ज़रूरत बन सकती हूं, कमी उस फ्रेम की है, जिसमें वह मुझे देखना चाहता है।

कहां है वह फ्रेम?

उसे कैसे पाया जाए?···

सिर घूम रहा था। लगा, मेरा दम घुट जाएगा उस माहौल में। मैं ज़्यादा देर रह नहीं सकती थी।

सुबह हो रही थी। मुझे लगा, सूरज की रोशनी मेरे मन को अंधेरी परतों से भरती जाएगी। ऑफिस···घर···एक ऐसा बोझ, जिसे मैं ढो नहीं सकती···सत्यजित का मुकाबला करने के लिए मुझे एक फ्रेम चाहिए··· क्या होता है वह फ्रेम?

उठकर मैंने आंखों पर ठंडे पानी के छींटे दिए। भरसक व्यवस्थित होकर मेज़ पर गई। ऑफिस के लिए एक अर्ज़ी लिखी। कागज़ मोड़कर लिफाफे में रखा, फिर पता लिखा। पच्चीस पैसे का टिकट लगाया और लिफाफा बंद कर दिया।

छः बजने वाले थे। उठकर मैंने जल्दी-जल्दी एक अटैची में कुछ कपड़े

मरे। 'सीमांत' की पांडुलिपि कपड़ों की तह में [illegible]। [illegible] जरूरी चीज़ें एक 'एयर बैग' में रखीं।

सब कुछ ठीक-ठाक हो गया तो सारे [illegible] करने लगी। कई जगह ताले बंद किए, खिड़कियाँ [illegible] सबका जायज़ा लिया।

बाहर निकली तो बारिश बंद हो चुकी थी। [illegible] ओर उड़े जा रहे थे। सर्दी के बावजूद हवा [illegible] थे।

स्टेशन आकर मैंने ऑफिस के नाम का [illegible] दिया। स्थानीय टेलिफोन के 'बूथ' से [illegible]।

"माँ का तार आया है। कलकत्ता [illegible] की छुट्टी की अर्ज़ी अलग डाक से भेज दी है।"

मैंने उन्हें कुछ कहने का मौका न देते हुए [illegible]।

टिकट की खिड़की पर कुछ [illegible] नहीं थी। [illegible] टिकट वगैरह—[illegible]।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

कर हैरान रह गई। उसकी हैरानी की परवाह किए बगैर मैं अपने कमरे में दाखिल हुई। रामदीन मेरा सामान रख गया।

नहा-धोकर मां के पास पहुंची तो वह मेरे लिए चाय लेकर बैठी थीं। अपने हाथ से बनाकर चाय का प्याला मेरी ओर बढ़ाते हुए बोलीं :

"रास्ते में कोई तकलीफ तो नहीं हुई ? जगह मिल गई थी ?"

"हां, मां ! आप कैसी हैं ?"

"ठीक हूं। तू बता ?"

"आपके सामने हूं।" एक फीकी मुस्कान मेरे होंठों पर तैर गई।

"देव कैसा है ?"

"ठीक है मां, फिर बात करेंगे।"

"और सत्यजित ?"

"कल ही मुलाकात हुई थी, ठीक है।"

मां मेरे आने से खुश थीं। रात का खाना हमने साथ खाया, फिर मां मेरे कमरे में आ गईं। बगैर किसी खास भूमिका के मैंने देव के बारे में उन्हें सब कुछ बता दिया। मेरी बात की कोई प्रतिक्रिया उनपर हुई हो तो मुझे पता नहीं, उन्होंने कुछ कहा नहीं। सत्यजित के बारे में हमारी कोई बात नहीं हुई।

दूसरी सुबह मैंने मां को बताया, कुछ महीनों की छुट्टी लेकर कहीं जाना चाहती हूं। बड़ी देर तक वह चुप बैठी रहीं। फिर बोलीं :

"कहां जाना चाहती है ?"

"कहीं भी, जहां एकांत में कुछ सोच सकूं।"

उन्होंने कोई प्रतिवाद नहीं किया। जगह के बारे में बातचीत करने लगीं। आखिर में, नैनीताल भाटिया अंकल को ट्रंककॉल करने की बात तय हो गई।

भाटिया अंकल पापा के पुराने दोस्तों में से थे। नैनीताल में उनके दो होटल थे। रानीखेत और भवाली के आसपास कई कॉटेज थीं, जो गर्मियों में किराये पर उठ जातीं। तीन टैक्सी थीं, जो सीज़न में पहाड़ों पर चलतीं, बाद में हल्द्वानी आ जाती थीं।

जनवरी का आखिरी हफ्ता था। गर्मियों के लिए बुकिंग शुरू होने में

अभी देर थी। हमें जगह के बारे में कोई परेशानी नहीं हुई। भाटिया अंकल की मदद से भरे सीजन में भी जगहें मिल चुकी थीं।

तय हुआ, छः महीने के लिए एक कॉटेज किराये पर ले ली जाएगी। मां कुछ दिन मेरे पास रहकर ऋषिकेश चली जाएंगी उनके लौटने तक रामदीन के साथ मैं वहीं रहूंगी, फिर हम लोग साथ-साथ लौट आएंगे।

मेरी मानसिक स्थिति से मा पूरी तरह बेखबर हो, ऐसी बात नहीं थी, लेकिन उन्होंने कुछ पूछा नहीं। उनके अंदर यह नया परिवर्तन था। पापा के समय में ऐसा कुछ होता तो वह सवालों की बौछार कर देतीं। न जाने कितनी कहानियां मुझे गढ़कर सुनानी पड़ती। न जाने कितने कारण मुझको देने पड़ते।

मैंने उनसे सिर्फ इतना ही कहा था :

"जितनी जल्दी हो सके, मैं इलाहाबाद छोड़ देना चाहती हूं।"

मां मेरी ओर देखती रही थी, उसके बाद चुपचाप भाटिया अंकल को ट्रंककाल करने चली गई थीं।

भाटिया अंकल से उनकी जो भी बात हुई हो, उन्होंने मुझे तैयारी के लिए दो दिन का समय दिया और काठगोदाम के दो टिकट मुझे देते हुए बोली थीं :

"रामदीन के साथ तुम चलो। हफ्ते-भर के अंदर यहां का सारा इंतजाम करके मैं आ जाऊंगी।"

"मेरे जाने की खबर किसीको मिलनी नहीं चाहिए मां!"

"क्या बात है बेटी, तुझे किसी बात का डर है?"

"नहीं मां! ऐसी कोई बात नहीं है।"

मां खामोश हो गई।

मैं अपना कुछ खास सामान लाई नहीं थी। मां ने अपनी कई साड़ियां निकालकर मेरे ट्रंक में रखवाईं। खाने-पीने की न जाने कितनी चीजें रामदीन के सुपुर्द कीं। सौ रुपये मुझे जबर्दस्ती पकड़ाते हुए बोलीं :

"लिपस्टिक वगैरह कुछ खरीदना हो तो खरीद डालो। वहां चीजें महंगी मिलती हैं।"

शाम को आया के साथ सिविल लाइंस जाकर मैंने दो दिन देने का

का 'राइस पेपर' और एक पार्कर पेन खरीदा और वापस आ गई।

रामदीन टाइगर के लिए परेशान था, लेकिन मां ने अपने साथ उसे लाने का फैसला करके रामदीन को शांत कर दिया।

जिस दिन चलना था, रामदीन को एक ओर ले जाकर मैंने कहा :

"रामू काका, इतने दिन के लिए हम जा रहे हैं, एक-आध पेड़-पौधे नहीं ले चलोगे ?"

"पेड़-पौधों की वहां क्या कमी होगी बिटिया ! यहां के पेड़ उगेंगे वहां ?"

"अभी तो जाड़ा है काका, क्यों नहीं उगेंगे ?"

"गुलाब तो वहां बहुत होते होंगे।"

"मैं बताऊं काका, इश्कपेचा की एक छोटी-सी लता ले चलो। इसके फूल बड़े प्यारे होते हैं।"

रामदीन को मेरी बात अच्छी लगी। एक छोटा-सा इश्कपेचा गीले तौलिये में लपेटकर ले आया। सेलोफीन के एक बड़े थैले में उसने काफी सारी सूखी मिट्टी रख ली।

"इसका क्या करोगे ?" मैंने पूछा।

"नई मिट्टी में पता नहीं लगे न लगे, इसीलिए थोड़ी-सी देसी मिट्टी रख ली है।"

चलने से पहले मैंने ऑफिस को एक और चिट्ठी लिखी, जिसमें बीमारी का बहाना, साथ में डॉक्टर का सर्टिफिकेट, और हवा बदलने के लिए बाहर जाने की सूचना थी।

अपना नया पता मैंने किसीको नहीं दिया। इलाहाबाद पोस्ट ऑफिस में लिखकर दे दिया गया, सारे पत्र भाटिया अंकल के पते पर नैनीताल भेज दिए जाएं।

डाक में मेरी कोई दिलचस्पी नहीं थी। मैंने मां को बता दिया था, अगर उन्हें सुविधा मिले तो अपने पते पर पत्र मंगवा सकती हैं। जहां मैं रहूंगी, वहां का पता किसी तीसरे आदमी को नहीं मिलना चाहिए।

काठगोदाम गाड़ी पहुंची तो स्टेशन पर भाटिया अंकल मौजूद थे। बड़े प्यार से मिले। पापा के मरने के बाद मैं उनसे पहली बार मिली थी। घर चलने के लिए उन्होंने जिद की तो मैं अड़ गई :

"फिर आऊंगी अंकल ! कहां कॉटेज ली है ? वहीं चलिए।"

"तू तो अब भी अड़ियल है," वह मुस्कराए : "मैं तो समझता था, इतनी बड़ी लेखिका बनकर तुझमें कुछ अक्ल आ गई होगी।"

रामदीन आगे ड्राइवर के साथ बैठा था। रास्ते-भर भाटिया अंकल बातें करते रहे।

"कैसे लिखती है ? कैसे सोचती है ? कहानी कैसे बन जाती है ? कितना पैसा मिलता है ? प्रकाशक बेईमानी तो खूब करते होंगे ? तुझे कैसे पता चलता है, कितनी किताब छपीं ? कितनी रॉयल्टी बनी ?"...

न चाहते हुए भी बातचीत में मैं हिस्सा ले रही थी। उनकी बातें मुझे अच्छी लग रही थीं।...

और इस तरह मैं अपने तीन कमरों वाली इस कॉटेज में दाखिल हुई।

कॉटेज की पहली रात सत्यजित से अलग होने के बाद की पहली रात थी, जब मुझे नींद आई। कई दिनों की भाग-दौड़, दिमागी बेचैनी और जिस्मानी थकान के बाद मैं बेखबर सोई।

सुबह रामदीन चाय लेकर आया तो उसने कमरे की दोनों खिड़कियां खोल दीं। कमरा सूरज की रोशनी से भर गया। मुझे अच्छा लगा। बड़ी देर तक अलसाई हुई बिस्तर पर अधलेटी मैं चाय पीती रही। सुबह की ताज़ी धूप में तैरते हुए असंख्य छोटे-छोटे गर्द के कण मुझे उलझाए रहे। फिर मैं उठ कर बाहर आई। थोड़ी देर चहलकदमी करती रही। शॉल से खुद को अच्छी तरह लपेटने के बाद भी मुझे ठंड लगती रही। रामदीन ने देसी मिट्टी की तहें तैयार करके थाला बना दिया था। इश्कपेचा की लता मैंने अपने दरवाज़े पर खुद ही लगा ली।

'अगर यह लता लग गई तो इंसाफ मुझे मिलेगा। इंसाफ, जो सत्यजित के हिसाब से मुझे मिलना चाहिए।' मैंने सोचा और न चाहते हुए भी एक फीकी मुस्कान मेरे होंठों पर तैर गई।

शुरू के दो दिन नई जगह के नये परिवेश में आसानी से गुजर गए।

मैंने सारे घर की नये सिरे से सफाई करवाई। कमरे में बिछे हुए बिस्तर, कालीन, सब कुछ धूप में डलवाया। रामदीन के साथ मेज़, कुर्सी, खिड़की, दरवाज़ों की डस्टिंग पर जुटी रही। फिर वह सब भी खत्म हो गया।

'सीमांत' की पांडुलिपि, पीले राइस पेपर का रिम और पार्कर पेन मेज़ पर सजा दिया। रामदीन कुछ अगरबत्तियां जलाकर कमरे में इधर-उधर लगा गया था।

मैं आंखें बंद करके निढाल बिस्तर पर पड़ी हुई थी। मेरा कमरा शारदा का वह मंदिर था, जिसमें प्रतिमा और पुजारी, दोनों के नाम पर सिर्फ मैं थी, मेरा बिखरा हुआ अतीत था जिसे मैं इन पीले कागज़ों पर बंदी बना लेना चाहती थी।

"अपना मनपसंद रंग कौन-सा है?" एक दिन सत्यजित ने पूछा था।

"पीला।"

"कारण?"

"पीला रंग रोशनी का प्रतीक है।"

"इसका मतलब आपको रोशनी की तलाश है।"

"रोशनी की तलाश किसे नहीं? विसेंट वान गाग एक अदद रोशनी की तलाश में कहां-कहां भटकता रहा। उसके कैनवासों पर पीला रंग देखा है आपने?"

"चित्रकारों में खासी दिलचस्पी है आपकी।"

"उनकी जिंदगी की धूप-छांव मुझे प्रभावित करती है।"

"विसेंट के बारे में आपने कितना पढ़ा है?"

"जितनी किताबें अंग्रेज़ी में उपलब्ध हैं। मैंने एक लेख भी लिखा था उसपर।"

"देखा था। तो आप भी रोशनी की तलाश में भटकना चाहती हैं?"

"भटकती रही हूं।"

"कब से?"

"आपसे मुलाकात होने के पहले तक।"

"अब क्या रोशनी मिल गई?"

"मिली तो नहीं, नज़र आ रही है।"

[illegible] है [illegible] कि मुझे [illegible] [illegible] अलग [illegible] के साथ [illegible] का प्रतीक है और [illegible] [illegible]

[illegible] दिन गुजारना [illegible] [illegible] लिखित [illegible] [illegible] नहीं किया।

मैं [illegible] कि पहुंचते ही एक-आध दिन [illegible] लिखना शुरू कर दूंगी। [illegible] पांडुलिपि और फाइलें [illegible] पर [illegible] लेकिन कलम उठाकर लिखना शुरू [illegible] की हिम्मत [illegible] नहीं आई।

एक कारण और भी था कि लिखना टलता गया। [illegible] मां को [illegible]। जब तक मेरे साथ मां रहतीं, मैं कोई काम [illegible] रहती थी। आराम का समय काम में गुजारना [illegible] और जो काम मैं करना चाहती थी, वह भी पाऊंगी, [illegible] नहीं था।

इस बीच डायरी मैंने बाकायदा लिखी और दीवार पर [illegible] की तारीखें बिना नागा काटती रही।

सत्यजित मेरे दिलोदिमाग से कभी नहीं उतरा। [illegible] ने की प्रतिक्रिया उसपर देखने की लालसा मन में बराबर बनी रही। [illegible] किन मैंने कौन-सा सूत्र छोड़ा था, जिसके सहारे वह मुझ तक पहुंचने की कोशिश करता?

मां मेरे पास दस दिन रहीं। आया भी अपनी [illegible] [illegible] के उनके साथ तीर्थ पर निकल पड़ी थी। उनके साथ ही वह भी [illegible] ई। रह गए हम तीन-रामदीन, ड्राइवर और मैं।

मनाली के नजदीक अपनी कॉटेज में पहुंचने के ठीक एक महीना बाद [illegible] लिखना शुरू कर पाई। कहानी सत्यजित के साथ [illegible] अपनी [illegible] लेकिन सीमांत का सत्यजित इस सत्यजित से अलग था। और [illegible]…

लिखना शुरू करने से पहले तीन दिन तक मैं [illegible]

सोचती रही। तीसरे दिन सोने से पहले तय कर लिया—कोई एक।

अच्छा लगा। न जाने कितनी रात तक 'कोई एक' मेरे दिलोदिमाग पर छाया रहा। उस 'कोई एक' के संग गुजारे हुए दिन-रातों पर हैरत होती रही।

सत्यजित ठीक कहता था : "समय तो बीत ही जाता है।"

आइंस्टाइन ने समय को गतिहीन माना हो। मुझे लगता है, समय की गति रोकी नहीं जा सकती।

भाग जाने की धमकी मुझे सत्यजित देता था और सब कुछ छोड़कर भाग आई मैं। मुझे हैरानी होती है, इतनी क्रूरता मेरे अंदर कहां से आई कि मैंने सत्यजित को अंधेरे में भटकने के लिए छोड़ दिया। लेकिन क्या वह अंधेरे में भटक रहा होगा?

क्या वाकई मेरे लिए वह बेचैन हुआ होगा? क्या वाकई मेरे चले आने पर उसे सब कुछ सूना लगा होगा?

सत्यजित कभी विक्षिप्त हो सकता है?

काश, एक बार वह इस बात को मान लेता…

सुबह ऑफिस जाते समय मुझे लेने वह जरूर आया होगा। दरवाजे पर ताला बंद देखकर उसे हैरानी हुई होगी। हो सकता है, ऑफिस में टेलिफोन किया हो। हो सकता है, ऑफिस से लौटकर घर पर मेरा इंतजार करता रहा हो। रात में उठकर फिर मेरे घर गया हो। और अगर टेलिफोन किया होगा तो उसे पता चल गया होगा, मैं इलाहाबाद चली गई हूं। मुझसे इस तरह के व्यवहार की उम्मीद उसे नहीं होगी। एक बार भी शायद उसने न सोचा हो कि उसका शादी से इनकार करना मुझे इस सीमा तक तोड़ सकता है।

क्या मैं वाकई टूट गई हूं?

उसे एक व्यक्तित्व चाहिए, जिस्म नहीं।…

"आपको पता है, आप क्या कह रही हैं?"

"मैं कह रही हूं, आपसे मिले बगैर एक दिन भी मैं रह नहीं सकती।"

"रीना को मैं एक शख्सियत के रूप में जानता हूं और कोई शख्सियत

महज देखने के लिए किसीपर निर्भर नहीं करती।"

"मेरी शख्सियत से मेरा कोई वास्ता नहीं," फिर ज़रा देर बाद : "आप समझते क्यों नहीं कि मैं एक औरत पहले हूं, शख्सियत बाद में।"

सत्यजित चुप हो गया था।

"मेरे पास रहकर आपको क्या मिलता है?"

"सुकून।"

"ज़िंदगी के लिए इतना काफी है?"

"और क्या चाहिए?"

"आपके अंदर प्रतिभा है।"

"उस प्रतिभा को भी आपकी ज़रूरत है।"

"मुझे लगता है, मैं उसे खत्म कर रहा हूं।"

"क्यों सोचते हैं आप ऐसी बात?" मैं बिफर पड़ी थी : "इसीलिए न कि मैंने लिखना-पढ़ना बंद कर दिया है," फिर ज़रा रुककर : "मन की यह हालत हमेशा नहीं रहेगी। मैं लिखना फिर शुरू कर दूंगी।"

फिर दिन, हफ्ते, महीने…

घर से दफ्तर, दफ्तर से सत्यजित। रात-रात-भर बातें, मुलाकातें। कोई कामा, कोई विराम नहीं…एक ऐसा सिलसिला, जिसे मैं खत्म करना नहीं चाहती थी…जो शायद लगातार चलता रहता…चलता चला जाता…

"अगर मैं कई दिनों के लिए आपको मिल सका तो आप क्या करेंगी?"

"एक अदृश्य धागे में बांधकर आपको हमेशा-हमेशा के लिए बंदी बना लूंगी।"

"अभी कोई कसर है?"

"अभी तो आप रस्सा तुड़ाकर भागने की बात करते हैं।"

"तब भी कर सकता हूं।"

"नहीं, गिरफ्त बढ़ा दूंगी।"

"धागा टूट जाएगा।"

"कच्चा नहीं है।"

"पक्के धागे भी कभी-कभी टूट जाते हैं।"

"तो मैं ज़ंजीरों से जकड़ दूंगी।" मैं उसके गले में बांहें डालकर झूल जाती।

"ऐसा क्यों करेंगी आप ?"

"ताकि मुझे छोड़कर आप कहीं···कभी न जा सकें।"

उसी सत्यजित को छोड़कर मैं यहां, इस वियावान में चली आई हूं। मन तड़पता रहता। सोते-जागते, उठते-बैठते, एक ही नाम···एक ही शक्ल ···एक ही खयाल···कभी-कभी मन होता, सब कुछ छोड़कर एक बार उसके साये में फिर समा जाऊं···कहूं :

"मुझसे शादी नहीं करोगे तो मत करो। अपने नज़दीक थोड़ी-सी जगह तो दे दो। किसी भी हैसियत से रह लूंगी। मुझे तुम्हारा सामीप्य चाहिए। मुझे तुम्हारा···।"

लेकिन सत्यजित को तो व्यक्ति चाहिए। एक ऐसा दिमाग, जो उससे उसके स्तर पर बात कर सके···वह मुझे मेरे फ्रेम में देखना चाहता है··· उसे एक गुड़िया नहीं चाहिए, जो उसकी परछाईं बनकर जीती रहे··· जिससे वह खेलता रहे···समर्पण का अर्थ वह नहीं जानता···जानना नहीं चाहता। कहता हूं, 'समर्पित' का मैं क्या करूंगा ?

तो क्या मैं सत्यजित के योग्य बनना चाहती हूं ? यहां क्या मैं इसलिए आई हूं कि एक फ्रेम बनाकर उसमें अपने-आपको जड़ दूं···ऐसा फ्रेम, जो सत्यजित सोचता है मेरे लिए ठीक होगा ?···

दिमाग की नसें फट पड़ने को होती हैं···काश, सत्यजित मेरे लिए इतना ज़रूरी न होता···

मन कहता, मुझे सिर्फ सत्यजित चाहिए। उसके लिए मैं कोई भी कीमत दूंगी···

विचार रुक जाते। इस रूप में रीना सत्यजित को कबूल नहीं। सत्यजित को पाने के लिए रीना को अपने आईने में अपनी तस्वीर देखनी

सुनाई नहीं पड़ा।

कैलेंडर पर निगाह पड़ी। सत्यजित से अलग हुए चार महीने दस दिन हो चुके थे। मां तीन दिन बाद वापस आने वाली थीं। मुझे लगा, समय का रुकना मैं देख रही हूं।

मैंने कपड़े बदले। साढ़े तीन बजे वाली नैनीताल की बस मुझे मिल सकती थी। भाटिया अंकल से मिलने की बात रामदीन को बताकर मैं कॉटिज से बाहर तेज़ी से नीचे की ओर उतरने लगी।

डेढ़ घंटे बाद मैं भाटिया अंकल के शानदार होटल के ऑफिस में थी। सीज़न की भीड़भाड़ अपनी शान पर थी।

"अंकल, मैं अपनी डाक देखना चाहती हूं।" मैंने कहा।

अंकल मज़ाक में कुछ कहते लेकिन शायद मेरा बदहवास चेहरा देखकर रुक गए। मेज़ से निकालकर चिट्ठियों का एक पुलिंदा मेरे सामने कर दिया।

"कुछ चिट्ठियां मैं मां के पते पर भेज चुका हूं।' उन्होंने कहा।

मैंने बिना कुछ कहे पुलिंदा ले लिया और मेज़ के किनारे रखे हुए सोफे पर बैठ गई। एक के बाद एक चिट्ठियां मेरे हाथों से गुज़रने लगीं। अंत में दो लिफाफे उठाकर मैंने बाकी सारे खत एक ओर रख दिए।

एक लिफाफा खोला। एक महीना पहले की तारीख थी।

दूसरा उससे पहले का था।

दोनों में एक ही बात थी :

'जहां भी हो, फौरन पता दो'—सत्यजित।

मैं एक लाइन का खत लिए न जाने कब तक बैठी रही। निगाह मेज पर रखे हुए टेलिफोन पर गई।

"अंकल, दिल्ली का एक नंबर मिलाना है।"

"बोलो।" उन्होंने रिसीवर उठा लिया।

मैंने उन्हें सत्यजित का नंबर दिया। अंकल ने एक्सचेंज से बात की। मैं इंतज़ार करने लगी। इस बीच बाकी पत्र देखे। देव के कई पत्र थे। मैंने खोले नहीं। मेरे ऑफिस का एक था, जिसमें उन्होंने पूछा था, मेरी तनख्वाह का क्या करें? अगर मैं पता भेज दूं तो चेक मेरे पास भेजा जा

सुबह घूमने निकलती तो निगाह भवाली मेन स्टाप की ओर होती। खाना खाकर टाइगर के साथ नीचे उतरती तो कदम उसी ओर मुड़ते। हर आने-जाने वाले को गौर से देखती। मामूली खटके पर दिल की रफ्तार बढ़ने लगती।

दिन-दिन-भर कमरे में बंद रहने वाली मेरी शख्सियत हवा की तरह इधर-उधर डोलती रहती।

"चलो बिटिया, वापस चलने का वक्त भी आ ही गया। मांजी को मना मत करना। सब लोग साथ ही चलेंगे।" रामदीन ने दो-तीन बार कहा।

मैं उससे कैसे कहती कि मुझे मांजी के अलावा भी किसीका इंतज़ार है।

सत्यजित को फोन किए दो दिन बीत गए। भाटिया अंकल को दो बार फोन किया, हालांकि मुझे अच्छी तरह याद था, मैंने उनका नंबर किसी को नहीं दिया था। मां ने अंकल को फोन पर खबर कर दी थी, दूसरे दिन किसी भी समय आ सकती हैं। रामदीन साथ चलने को तैयार है, लेकिन कॉटेज में अभी मैं एक महीना बीस दिन और रह सकती हूं। चाहूं तो आगे के लिए भी कॉटेज रोकी जा सकती है। लेकिन तब बरसात शुरू हो जाएगी। मां दो-चार दिन रुककर चली जाएंगी। रामदीन ऊब चुका है। आया का मेरे साथ, यहां, इस वीरान इलाके में ठहरने का सवाल नहीं उठता। फिर रह जाएंगे दो—मैं और टाइगर। हमारा यहां रुक जाना क्या मुमकिन था ?

मुझे इंतज़ार था। दिल्ली से नैनीताल का फासला कुछ घंटों का था, मैंने सत्यजित को अपना पता दे दिया था। क्या फिर वह ट्रैकिंग पर चला गया था ?

आशा-निराशा के झोंके मन को झिझोड़ते रहे। बेचैनी बढ़ती रही। समय गुज़रता रहा।

१२

पिछली तीन रातें जागकर बिताई थी। दोपहर से ही सिर में बेहद दर्द था।

रामदीन कुछ सामान खरीदने सुबह से ही नैनीताल गया हुआ था। शायद उसे मां का इंतजार भी था। शाम सात बजे से पहले उसके लौटने की उम्मीद नहीं थी। मां अगर पहले पहुंच गई तो बात और थी।

बहुत दिनों से कपड़े अस्त-व्यस्त पड़े हुए थे। कुछ नहीं सूझा तो सारा ट्रंक खोलकर ठीक करने लगी। कैसे भी मां के लौटने से पहले कमरा थोड़ा ठीकठाक कर लेना चाहती थी, ताकि उन्हें मेरी अस्तव्यस्तता की कोई बात पता न चले।

कुछ साड़ियों की तहें खराब हो गई थीं। सोचा, प्रेस करवाने रख लूं। निकालकर पलंग पर एक-एक फेंकने लगी। तभी कोई चीज नीचे गिरी।

कोडोपाइरिन की दो गोलियों का एक पत्ता।

"रात को सोने से पहले इन्हें खा लेना।" हाथ जड़ हो गए।

साड़ी पर निगाह गई।

सत्यजित से आखिरी मुलाकात की शाम···यही साड़ी तो डाल रखी थी।

सारी चीजें जहां-तहां छोड़कर मैंने कोडोपाइरिन उठा ली।

उस दिन मैंने सिरदर्द का बहाना किया था, आज सचमुच मेरा सिर दर्द कर रहा था।

थोड़ी देर खड़ी, कोडोपाइरिन का पत्ता देखती, सोचती रही।

फिर स्टूल पर रखे हुए जग से मैंने गिलास में पानी डाला। दोनों गोलियां मुंह में रखकर मैं पूरा गिलास पानी पी गई।

कुछ करने की तबीयत नहीं हुई।

कमरा अस्तव्यस्त पड़ा रहा। थोड़ी देर अनमनी-सी खिड़की पर खड़ी रही। फिर आकर बिस्तर पर लेट गई।

आंखें नम होने लगीं।

कब तक पड़ी रही, पता नहीं। फिर मेरी आंख झप गई।

टाइगर की आवाज़ पर मैं जगी। कमरे में शाम उतरने लगी थी। सोचा, मां के साथ रामदीन वापस आ रहा होगा। अपने लोगों के आने पर टाइगर को भौंकने की आदत थी। मन हुआ, उठकर देखूं, लेकिन करवट बदलकर फिर सो गई।

आवाज़ क्रमशः पास आते-आते कमरे के दरवाजे तक आ गई।

"क्या बात है टाइगर?" दरवाज़े की ओर लेटे-लेटे ही घूमी।

बिजली का तार छू गया हो जैसे।

अपनी अस्त-व्यस्तता का ध्यान जाता रहा।

मैं जड़ हो गई।

मुझे देखने के बाद टाइगर की आवाज़ धीमी पड़ने लगी थी।

पलंग से उठकर खड़ी होने में मुझे सदियां गुज़रती मालूम पड़ीं।

आइंस्टाइन कहते हैं, समय की कोई गति नहीं होती। मेरे सामने समय रुक गया है या भाग रहा है, मुझे पता नहीं।

सत्यजित बीच दरवाज़े पर खड़ा है।